9·3

संत तुलसीदास और उनके संदेश



राजपति दीक्षित



आदरणीय डॉ० प्राणनाथ जी

को

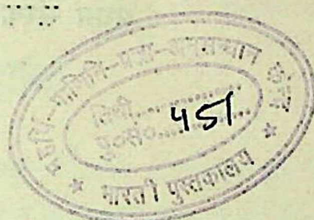
सप्रेम

उपहृत

रजनाती दीक्षित

२.१०-५६

संत तुलसीदास और उनके संदेश



लेखक—

डा० राजपति दीक्षित

एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट्०

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

बनारस

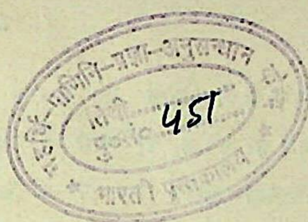
श्रीगोविन्द मुद्रणालय

मूल्य ३)

प्रथम संस्करण सं० २०१०

प्रकाशक एवं मुद्रक—

राममोहन शास्त्री



दो शब्द

यहाँ सर्वप्रथम अपने बड़े ग्रंथ 'तुलसीदास और उनका युग' की किञ्चित चर्चा करना अनिवार्य समझ रहा हूं, क्यों कि उसकी प्रेरणा से ही वृहद्‌जन-समुदाय की सेवा में उपस्थित करने योग्य 'संत तुलसीदास और उनके संदेश' सदृश एक छोटी रचना की स्पृहा बलवती हुई। 'तुलसीदास और उनका युग' का प्रकाशन अभी एक डेढ़ वर्ष पूर्व हुआ; किन्तु इतने अल्प काल में साहित्य मर्मज्ञों के बीच साहित्य-क्षेत्र में उसने जो स्थान प्राप्त किया वह मेरे लिए विशेष उत्साह-वर्द्धक सिद्ध हुआ। उत्तर प्रदेश की सरकार ने पुरस्कार देकर उसका मान बढ़ाया, साथ ही दूर-दूर के विद्वज्जनों और तुलसीदास के अध्यवसायी साहिह्य सेवियों ने उक्त ग्रंथ के अनेकानेक विषयों को लेकर मुझसे जो पूछताँछ की उससे ग्रंथ की लोकप्रियता समझ कर मैंने उसमें लगाए हुए अनेकानेक वर्षों के आयास-प्रयास को सफल माना। ग्रंथ का मूल्य कुछ अधिक होने पर भी उसकी यथेष्ट प्रतियों की खपत देखकर भी मुझे विश्वास हुआ कि सत्साहित्य के गुण-ग्राहकों ने मेरे साहित्यिक उपहार को सहर्ष स्वीकार किया है। एतदर्थ यह कैसे न स्वीकार करूँ कि 'तुलसीदास और उनके युग' ने भी मुझे 'संत तुलसीदास और उनके संदेश' के निर्माण का प्रोत्साहन दिया।

प्रस्तुत ग्रंथ में तुलसीदास की प्रामाणिक कृतियों के संभाव्य ताने-बाने से निर्मित उनके जीवनवृत्त का सहज और यथार्थ स्वरूप अनावृत किया गया है। इसमें उनके व्यक्तित्व और एकमात्र व्यक्तित्व की परख का मौलिक प्रयास है। इसीलिए सिर से पैर तक प्रायः ऐसे ही प्रकरणों का सन्निवेश किया गया है जो व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में सहायक हैं। इसके केवल अन्तिम प्रकरण

की योजना मैं ने अपने बड़े ग्रंथ के 'तुलसी का साहित्यिक उपहार' परिच्छेद के आधार पर की है, पर इसमें भी संत तुलसीदास के व्यक्तित्व की पहचान की नवीनता विशेष रूप से है अस्तु, इस ग्रंथ के अध्येताओं को यदि तुलसीदास के महान् व्यक्तित्व और उनके दिव्य संदेश की कुछ भी अनुभूति हुई तो मैं अपने को सफल-प्रयास समझूंगा।

मेरे विशेष परिश्रम, उत्साह और उल्लास का यह छोटा सा मधुर फल विज्ञ सहृदयों को सादर समर्पित है। वे इसका आस्वादन कर इसके सारासार का निर्णय करें। मुझे इस संबंधमें कुछ मुँह पर लाने का अधिकार नहीं।

मकर संक्रान्ति
सं० २०१०
१४ जनवरी १९५४

राजपति दीक्षित

विषय सूची



तुलसी की कृतियाँ

प्रामाणिक कृतियाँ और उनका रचना काल

यद्यपि गोस्वामी जी की कृतियों के संबंध में सभी समीक्षकों की धारणाएँ एक-सी नहीं हैं तथापि स्वर्गीय रामगुलाम द्विवेदी के विचारों से अधिकांश लोग सहमत हैं। द्विवेदी जी के मतानुसार जो कृतियाँ तुलसीदास कृत ठहराई गई हैं, उन्हें निम्नांकित छन्द में देखिए—

"रामलला नहछू, त्यों विराग संदीपिनिहु,
बरवै बनाइ बिरमाई मति साईं की।
पारवती, जानकी के मंगल ललित गाइ,
रम्य आज्ञा जिन कामधेनु नाईं की।
दोहा और कवित्त गीत ग्रंथ कृष्ण कथा कही,
रामायन विनय माँहि बात सब ठाईं की।
जग में सुहानी जगदीसहुँ के मन मानी,
संत सुखदानी बानी तुलसी गोसाईं की॥"[1]

छन्दसे बारह कृतियाँ स्पष्ट हैं। इनमें 'रामायण', 'कवितावली', 'गीतावली', 'दोहावली', 'विनयपत्रिका', और रामाज्ञा-प्रश्न' ये छह बड़े ग्रन्थ हैं तथा 'रामलला नहछू', 'वैराग्य-संदीपिनी', 'पार्वती-मंगल', 'जानकी-मंगल', 'कृष्णगीतावली' एवं 'बरबै रामायण' छह छोटे ग्रन्थ। यही बारह कृतियाँ तुलसीदास की प्रामाणिक कृतियाँ मानी जाती हैं[2]। कुछ महानुभावों का आग्रह है कि 'तुलसी सतसई' भी प्रामाणिक कृतियों की कोटि में रखी जानी चाहिए। स्वयं मैं भी नहीं चाहता था कि ऐसा चमत्कार और वैदग्धपूर्ण ग्रंथ तुलसीदास के अतिरिक्त और किसी का कहा जाय; पर खेद है, तुलसीदासके रंग में रंग चुकने पर उनकी अन्यान्य सभी प्रामाणिक कृतियों का निरन्तर परिशीलन कर

---

१ यह छन्द शिवनंदन सहाय ने अपने "श्री गोस्वामी तुलसीदास का जीवन चरित्र" पृ० १५९ पर उद्धृत किया है।

२ दे० "इन्साइक्लोपेडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स" भाग १२, पृ० ४७०

चुकने पर उनका जो प्रभाव मुझ पर पड़ा उसके आधार पर जब 'तुलसी सतसई' की जाँच करता हूँ तो स्वभावतः इसी निष्कर्ष पर आता हूँ कि 'तुलसी सतसई' गोस्वामी तुलसीदास की कृति नहीं है।

मेरे इस निष्कर्ष के कारण भी अत्यन्त संक्षेप में उल्लेखनीय हैं। तुलसीदास की इतर प्रामाणिक रचनाओं में काव्य की जिस सीधी और हृदय-स्पर्शिनी शैली का प्रत्यक्षीकरण होता है 'सतसई' में उसका अभाव है। यदि अन्यान्य रचनाओं में हृदय के भावोद्रेक की व्यंजना होती है तो 'सतसई' में दिमागी कसरत की। तुलसीदास जी दिमाग की हलाली करके कविता करनेवाले नहीं थे। उनके मत से तो नैसर्गिक सरिता-प्रवाह की भाँति कविता-प्रवाह भी स्यंदमान् होना चाहिए।

'सतसई' में 'दोहावली' के जो पौने दो सौ दोहे सन्निविष्ट हैं, यदि उन्हें ग्रंथ से पृथक् कर दिया जाय तो शेष दोहों से स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि यह गोस्वामी जी की कृति नहीं है। यदि वह उनकी कृति होती तो क्या इसके रचनाकाल (सं० १६४२) में वे ऐसी निर्बल और निरोज भाषा लिखते। यह हमारी अदूरदर्शिता नहीं तो क्या होगी कि 'मानस' जैसे महाकाव्य में भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के अनन्तर 'सतसई' की-सी लचर और असमर्थ भाषा में रचना करने का भार उन पर लादें। 'सतसई' में ऐसे दोहों की भरमार है जिनकी व्याख्या के हेतु अध्याहार करते-करते टीकाकारों के नाकों दम आ गया होगा। ऐसी असमर्थता तो तुलसीदास के दोहों की पहचान नहीं है।

नीचे दो-तीन ऐसे दोहे दिये जाते हैं जिन्हें देख कदाचित् ही कोई महाशय स्वीकार करें कि गोस्वामी जी ऐसी ही लचर भाषा लिखते थे—

"सलिल मुकर सोनित समुझु, मल अरु असथि समेत।
बाल कुमार जुवा जरा है सो समुझु करु चेत[1]॥"

× × ×

"सरनागत तेहि राम के जिन्ह दिय धी सिय रूप।
जा पदनि घर उदय भये, नासे भ्रम तम कूप[2]॥"

× × ×

---

१ "तुलसी सतसई" द्वितीय सर्ग दो० २०५
२ वही " " १८४

"जहँ ते जो आयेउ सो है, जाइ जहाँ है सोइ।
तुलसी बिनु गुरु देव को किमि जानै कहु कोइ[१]॥"

'सतसई' में कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जो गोस्वामी जी की किसी अन्य रचना में नहीं हैं। यथा 'तोहरो' (तुम्हार); 'वाय' (वाहि); 'जगत्र' (जगत्); 'कमान' (सेना) 'मामिला'; व्रिजिन (दुःख) आदि। इनके आधार पर भी इसी विचार का समर्थन होता है कि इसका रचयिता कोई और रहा होगा गोस्वामी जी नहीं। 'सतसई' में 'कना'[२] शब्द मकरा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने दिखाया है कि उक्त शब्द गाजीपुर का प्रांतिक शब्द है और इसके आधार पर उन्होंने 'सतसई' रचयिता को गाजीपुर-निवासी ठहराया है। यही नहीं पंडित जी ने फारसी के 'ऐन' 'गैन' वर्णों पर उसकी करामाती कल्पना[३] देखकर उसे कायस्थ-जाति[४] का घोषित किया है।

'सतसई' में निरूपित सिद्धान्तों के आधार पर भी वह गोस्वामी जी की कृति नहीं कही जा सकती। उसमें जानकी उपासना को बहुत प्रश्रय मिला है। तुलसीदास ने अपने किसी ग्रंथ में सीता को राम से पृथक् या प्रधान मान कर उनकी वंदना नहीं की है। सतसईकार ने ज्ञान और भक्ति का जो परस्पर संबंध दिखाया है उससे अवगत होता है कि उसने ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठ स्वीकृत करके उसे चरम साध्य ठहराया है। इधर गोस्वामी जी के मत में भक्ति ही चरम साध्य है।

'सतसई' से जानकी उपासना संबंधी तथा 'दोहावली' के सभी दोहे निकाल लेने पर जो दोहे बचते हैं यदि उन पर ध्यान देकर विचार किया जाय तो ऐसी प्रतीति होती है कि 'सतसई' का निर्माता कोई निर्गुण मत का प्रचारक था। तभी तो कबीर के आत्माराम और सद्गुरु माहात्म्य संबंधी उक्तियों और तद्विषयक 'सतसई' की उक्तियों में पूर्ण सादृश्य है।

अन्त में, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि 'सतसई' किसी ऐसे व्यक्ति की कृति है जो गोस्वामी जी के महत्त्व को भली-भाँति समझे था; उसने बाबा जी के दोहों को ग्रहण कर उसी में स्वरचित दोहे जोड़ कर 'सतसई' तैयार की

---

१ वही ,, ,, १८६
२ दे० 'तुलसी सतसई' तृतीय सर्ग दो० २४२
३ ,, ,, चतुर्थ सर्ग दो० ३६२, ३६३
४ ,, 'तुलसी सुधाकर' पृ० १४

और इस प्रकार गोस्वामी जी की ओट में अपने सिद्धान्त लोगों के पास सुगमता से पहुँचाना चाहा।

गोस्वामी जी की प्रामाणिक कृतियों में से 'रामाज्ञा-प्रश्न', 'रामचरित मानस' और 'पार्वती-मंगल' ऐसी हैं जिनका रचना-काल उन्हीं में इङ्गित है। देखिए—

१ "सगुन सत्य ससि नयन गुन, अवधि अधिक नय बान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु, प्रीति प्रतीति प्रमान॥"
'रामाज्ञा प्रश्न' सर्ग ७।४

२ "संबत सोरह सौ इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा॥"
'मानस' बा० ३३.४

३ "जय संवत फागुन सुदि पाँचै गुर दिनु।
अस्विन विरचेउ मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु॥"
'पार्वती-मंगल' छ० २

प्रथम उद्धरण में कवि परंपरा के अनुसार संख्या सूचक जिन सांकेतिक शब्दों का प्रयोग हुआ है वे हैं—'शशि', 'नयन', 'गुण', 'नय' (नीति), बाण। दोहे के अर्थ पर दृष्टि रखते हुए यदि संख्याएँ रखी जायँ तो वे १, २, ६, १ होंगी*। इन्हें "अंकानां वामतो गतिः" के अनुसार पढ़ने पर १६२१ होगा। इस प्रकार 'रामाज्ञा-प्रश्न' का रचनाकाल सं० १६२१ हुआ।

दूसरे अवतरण से स्पष्ट ही है कि 'मानस' का रचनाकाल सं० १६३१ है

तीसरा अवतरण प्रकट करता है कि 'पार्वती-मंगल' की रचना के समय जयसंवत की फाल्गुनी सुदी पंचमी बृहस्पतिवार और अश्विनी नक्षत्र वर्तमान थे। डा० ग्रियर्सन ने पं० सुधाकर द्विवेदी से गणना करा कर दिखाया है कि जयसंवत् संवत १६४३† में पड़ा था। अतएव 'पार्वती-मंगल' का रचनाकाल सं० १६४३ है।

शेष नवों कृतियों के रचनाकाल का आनुमानिक निर्देश तुलसीदास के कई समीक्षकों ने किया है, उनमें डा० माता प्रसाद गुप्त का अनुमान अधिक समी-

* काव्यलक्षण ग्रंथों से अवगत होता है कि शशि १, नेत्र २, गुण ६, नीति ४ और बाण ५ के लिए प्रयुक्त होते हैं।

दे० केशवदास : 'कविप्रिया' शीर्षक ११, छंद ५ टीका तथा छंद ७, १६, १०, १२

† दे० 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' सन् १८९३ पृ० १५-१६

चीन और तर्कयुक्त है। उनके तर्कानुसार 'रामललानहछू' का रचनाकाल सं० १६११, 'वैराग्य-संदीपिनी' का सं० १६१४, 'जानकी-मंगल' का सं० १६२७, 'गीतावली' और विनयपत्रिका' का सं० १६५३, 'कृष्णगीतावली' का सं० १६५८ तथा 'बरवै रामायण' 'दोहावली' एवं 'कवितावली' (सबाहुक) का सं० १६६१ से १६८० के बीच पड़ता है[1]। इन अनुमान-सिद्ध रचनाकालों को ग्रहण कर लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं।

यद्यपि होनहार बिरवा के चिकने पत्ते आरम्भ में ही उसकी श्रेष्ठता का आभास देते हैं, पर वस्तुतः उसका महत् रूप, उसकी उपयोगिता तो कालान्तर में ही प्रकट होती है। प्रकृतितः वह नाना प्रकार के सम–विषम वातावरण में लालित–पालित होने के बाद ही वृक्ष की संज्ञा प्राप्त करता और संसार को शीतल छाया प्रदान करता है। महाकवि के काव्य का विकास भी ऐसा ही समझना चाहिए। वह अपनी काव्य शक्ति जन्म से लेकर आता है, किंतु इस बीज का विकास और परिपाक समयोपरान्त ही होता है। इस बीज के विकास के साधन हैं—अनेक शास्त्रों का अध्ययन, जीवन का व्यापक अनुभव एवं कविता करने का सतत अभ्यास। कवि की नैसर्गिक काव्य प्रतिभा ज्यों–ज्यों इन साधनों का योग पाती जाती है त्यों–त्यों वह निखरती चलती है। यही कारण है कि कवि की प्रारम्भिक और प्रौढ़ कृतियों में आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई पड़ता है। इस आधार पर भी अनुमान किया जा सकता है कि कौन कृति किस अवस्था की है। इस प्रकार भी रचनाओं का वर्गीकरण होता है।

कृतियों की तारतमिक योग्यता का निरूपण और वर्गीकरण

गोस्वामीं जीकी सभी प्रामाणिक कृतियों का परस्पर मिलान करने पर उनमें काव्य–पटुता का उत्तरोत्तर क्रमिक विकास भी दृष्टिगत होता है। यही कारण है कि कुछ कृतियाँ अन्य की अपेक्षा अधिक काव्य–सौष्ठव और गाम्भीर्य-युक्त हैं। प्रतिभा प्रगति के आधार पर उनकी कृतियों का वर्गीकरण यों होगा—प्रथम श्रेणी अर्थात् उनके काव्य–जीवन के प्रभातकाल की वे कृतियाँ जिनमें एक साधारण नवयुवक की रसिकता, सामान्य काव्यरीति का परिचय, सामान्य सांसारिक अनुभव, सामान्य सहृदयता तथा गम्भीर आध्यात्मिक विचारों का अभाव मिलता है। इनमें वर्ण्य विषय के साथ अपना तादात्म्य करके स्वानुभूतिमय वर्णन करने की प्रवृत्ति अवश्य वर्तमान है, इसी से प्रार-

१ "तुलसीदास" पृ० २५३–२५४

म्भिक रचनाएँ भी इनके महाकवि होने का आभास देती हैं। प्रथम श्रेणी में 'नहछू', 'वैराग्य-संदीपिनी', 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'जानकी-मंगल' परिगणनीय हैं।

दूसरी श्रेणी में उन कृतियों को समझना चाहिये जिनमें कवि की विशद लोकव्यापिनी बुद्धि, उसकी सद्ग्राहिता, उसकी काव्य के सूक्ष्म स्वरूप की पहचान, उसकी व्यापक सहृदयता, उसकी अनन्य भक्ति और उसके गूढ़ आध्यात्मिक विचार विद्यमान हैं। इस श्रेणी की कृतियों को हम तुलसी के प्रौढ़ और परिपक्व काव्य–काल की रचनाएँ मानते हैं। इसके अन्तर्गत 'मानस' 'पार्वती-मङ्गल', 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली' आयेंगी। इन्हें हम कवि की मध्यकालीन रचनाएँ भी कह सकते हैं।

अन्तिम श्रेणी में उनकी उत्तरकालीन रचनाएँ आती हैं। इनमें कवि की प्रौढ़ प्रतिभा ज्यों की त्यों बनी है और कुछ में वह आध्यात्मिक विचारों को प्राधान्य देता हुआ दिखाई पड़ता है। साथ ही अपनी अन्तिम जरा अवस्था का संकेत भी करता है; अपने पतनोन्मुख युगको चेतावनी भी देता है। 'विनयपत्रिका', 'बरवै रामायण' 'कवितावली' सबाहुक तथा 'दोहावली' तीसरी श्रेणी में रखी जा सकती हैं।



तुलसी-परिचय

जीवन-चरितकी विविधता

काव्य, साधुता और मानवता के क्षेत्रमें संसार की दृष्टि में अपना गौरव-पूर्ण स्थान रखने वाले तुलसीदास के जीवन-चरित के विषय में लोगों की विविध धारणाएँ अपूर्व कुतूहल पैदा करती हैं। महान् आत्माओं के विषय में प्रायः देखा जाता है कि उनका जीवन-चरित ही कुछ ऐसा गूढ़ होता है कि लोग वरावर उसकी छानबीन करते हुए अपने-अपने मतानुसार गान भी करते रहते हैं। यही गोस्वामी जी के साथ भी हो रहा है। जिसकी दृष्टि में तुलसी विषयक जो नवीनता दिखाई पड़ती है वह उसी का मण्डन करता है। उनके जीवन-चरित के विषय में जो विविधता दिखाई देती हैं, उसे ये प्रश्न ही सूचित करेंगे।—गोस्वामी जी किस शुभ मुहूर्त में अवतीर्ण हुए ? किस भव्य माता–पिता के नाम को उन्होंने उज्ज्वल किया ? किस विशिष्ट स्थानको इनकी जन्मभूमि कहलाने का सुयश प्राप्त हुआ ? किन प्राणियों ने उन्हें अपना स्वजन कहने का सौभाग्य पाया ? किस गुरु ने ऐसे गुरु को अपना शिष्य बनाया ? कौन-कौन सी विशेष घटनाएँ उनके जीवन में घटित होकर स्वयं कृतार्थ हुईं। इन कतिपय श्नों के पृथक्–पृथक् उत्तर-दाता अनेक मिलेंगे। यही तो विविधता हुई। अब इस विविधता के मूल कारण को जन्म देने वाली बात पर ध्यान देना चाहिये।

विविधता के कारण

महत्त्वाकांक्षाओं में कीर्ति और सम्मान का विशेष स्थान है। साधारण मनुष्यों का कुछ कहना ही नहीं, उदात्त चरित व्यक्ति भी कीर्ति–पिपासा का शमन नहीं कर सकते। मिल्टन का कहना है—'यशः स्पृहा उदात्त लोगों की अन्तिम दुर्बलता है'। (Fame is the last infirmity of noble minds)। इससे स्पष्ट है कि बड़े से बड़ा सांसारिक पुरुष भी अपनी प्रतिष्ठा का भूखा होता है। इन महत्त्वाकांक्षाओं की और भी दिशाएँ हैं।

क्या विद्या, क्या ऐश्वर्य, क्या बल, क्या कला, किसी क्षेत्र में मनुष्य अग्रसर होना चाहता है। वह किसी विशिष्ट स्थान पर पहुँच कर ख्याति पाने के पूर्व ही संसार को अपना परिचयात्मक विज्ञापन देता रहता है कि मैं अमुक महान् कार्य की ओर प्रवृत्त हो रहा हूँ। कुछ बड़े-बड़े महत्वाकांक्षी कवियों ही को लीजिए। वे प्रायः अपनी रचनाओं के पूर्व अपना वंश-परिचय आदि देकर तब आगे बढ़ते हैं। ऐसा करने से उनकी ख्याति उनके पूर्वजों की ख्याति को विस्तृत करती हुई स्वयं बढ़ती है। परन्तु, इसके विपरीत कुछ अपवाद स्वरूप ऐसे प्राणी भी होते हैं जिन्हें इसकी तनिक भी चिंता नहीं रहती कि मैं अमुक बड़ा कार्य करूँ जो मुझे सम्मान के शिखर पर आरूढ़ करे; ऐसे लोगों के लक्ष्य महत्तम होते हैं और अधिक से अधिक वे इतने ही के अभिलाषी होते हैं कि उनके कार्य से विश्वका परम कल्याण हो। वे कौन हैं? उनका क्या पता है? इन बातोंको वे गुप्त ही रखते हैं। भले ही संसार छान-बीन करके जान ले। पर वे स्वयं नहीं जनाना चाहते। ऐसे विचार वाले सच्चे सन्त ही हो सकते हैं। क्यों कि—'लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु'। समझ कर वे सदैव अपने को तुच्छ मानते हैं। परम सन्त तुलसीदास ने भी ऐसा ही किया है। उन्हें क्या पड़ी थी जो अपना परिचय देने जाते। अपने उदात्त लक्ष्य जिससे समस्त संसार, समस्त मानव जाति का कल्याण हो सकता है उसका परिचय तो विविध विधि से करा ही दिया है। जिसका जी चाहे राम से परिचय पूर्ण परिचय कर ले। यदि तुलसी से परिचय करना चाहे तो राम के सेवक के नाते सर्वत्र तुलसीदास भी पढ़ ले। इतना ही नहीं उनके जीवन की उन दिशाओं की भी झाँकी कर ले जिनके प्रभाव से तुलसी तुलसीदास हुए। इससे अधिक अपने विषय में कहने की आवश्यकता ही क्या थी एक पहुँचे हुए महात्मा को। अस्तु, अंतः साक्ष्यों के आधार पर भले ही अपूर्ण किंतु निर्विवाद जीवनी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है।

निर्विवाद जीवनी की स्थापना

गोस्वामी जीने किसी ब्राह्मण-कुलमें जन्म ग्रहण किया था। यह बात 'विनयपत्रिका'[१] और 'कवितावली'[२] की कुछ उक्तियों से प्रकट होती है। ब्राह्मण-कुल साधारणतः यों ही वैभवशाली नहीं होता, पर जिस कुल में

(१) दे० 'विनय०' पद १३५ [१] "दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर...मुरारिको।"
(२) ,, 'कविता०' उ०छ० ७३ "भलि भारत भूमि भलो कुल जन्म...लहिकै।"

तुलसीदास जी अवतीर्ण हुए वह तो बहुत ही दीन था। उसकी विपत्ति-ग्रस्तता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि वहाँ पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर भी प्रसन्नता की शहनाई नहीं गूँजी प्रत्युत माता–पिता को विषाद ही हुआ[1], क्योंकि वहाँ आनन्द–बधाई के लिए पूँजी न थी; यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है कि अत्यन्त निर्धन को पुत्रोत्पत्ति के समय भी चिंता रहती है कि हाय ! भगवान् ! अकेले तो किसी प्रकार उपवास भी करके सो रहते किन्तु अब इस कोमल बालक को सौर–गृह में क्या दें। अवश्य ही तुलसीदास के माता-पिता ऐसे ही विपद्ग्रस्त दीन ब्राह्मण थे तभी तो उन्हें पुत्रोत्पत्ति का सुअवसर भी विषादमय ही प्रकट हुआ।

ये महाराज अत्यन्त दीन कुल में जन्म ग्रहण करने का श्रेय ही लेकर नहीं आए; बाल्यकाल में ही अनाथ भी बन गये; जननी-जनक त्याग कर चले गये थे[2]। एक अनाथ बालक जिसके आगे-पीछे कोई नहीं, उसकी कैसी दशा थी; बेचारा द्वार-द्वार भीख माँगने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता था। भिखमंगों की भाँति पेट खला-खला कर भिक्षा के लिये दाताओं के पैरों तक पड़ना पड़ता था[3]; लोगों की अपमान भरी दृष्टि को देखना पड़ता था। 'पेटागि' के कारण सुजाति-कुजाति सब का दिया हुआ टुकड़ा खाना पड़ता था[4]। एक अनाथ बालक क्रूर समाज के मुट्ठी भर दाने के लिये कितना दुखी और अपमानित होकर घूमता था इसका अनुमान "दुखउ दुखित मोहि हेरे[5]" से किया जा सकता है। ऐसे अनाथ की खिन्नता की अनुभूति विरले उदार सन्त महात्मा ही कर सकते हैं। हुई भी यही बात। तुलसी की दीनावस्था देख एक सन्त महात्मा का हृदय द्रवीभूत हो गया; उन्होंने बालक को आश्वासन दिया। राम-भक्ति का उपदेश किया। अनाथ बालक ने एक संबल पा लिया। उसके

---

१ ,, 'कविता०' उ०छ० ७२ "जायो कुल मंगन''''''तिनको तनको।"

२ दे० 'कविता०' उ० छ० ५७ "मातु पिता जग जाय तज्यो
''''''''''''खोरि न लाई।"

'विनय०' पद २२७ "जननी जनक तज्यो जनमि,
करम बिनु बिधिहुँ सृज्यो अवडेरे।"

३ ,, 'विनय०' पद २७५ "द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पा हूँ"

४ ,, 'कविता०' उ० छ० ७२ "जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागि
बस, खाये टूक'''।"

५ ,, 'विनय०' पद २२७

हृदय में राम-भक्ति का अंकुर उगने लगा। बाल्य-हृदय में सांसारिक वासनाओं के कंटकों का अभाव होने के कारण राम-प्रेम का पौदा अबाध गति से बढ़ने लगा और कालान्तर में अक्षयवट हो गया। बालक बिना मोल का ही राम का दास हो गया; उसे अपने भाग्य में रामनाम ही की ओट लिखी मिली[१]। इस प्रकार निष्कपट भाव से राम-भक्ति की ओर पैर बढ़ाते जाने और रूखा-सूखा माँग कर खाने से भी उसे शांतिमय जीवन की अनुभूति बाल्यकाल ही में होने लगी[२]। इसमें संदेह नहीं कि संत ने दयार्द्र होकर बालक को रामभक्ति का सहारा दिया और उससे उसे शांति की अनुभूति हुई, परन्तु इसी संबंध में यह भी स्मरण रखने की बात है कि बाल्यकाल में ही रामभक्ति के साथ हनुमान की भक्ति भी इस बालक को अतिप्रिय थी। बाल्यावस्था से ही हनुमानने इसे अपना बना लिया था[३]। इतना ही नहीं, बाल्यकाल से ही तुलसीदासका कोमल हृदय शिव की भक्ति की ओर भी झुका था। इसीलिये इन तीनों के प्रति उनके हृदय में अन्ततः अविचल, अटल, अनन्य, प्रेम बना रहा। उन्होंने इन तीनों को क्रमशः 'साहेब', 'सहाय' और 'गुरु' के रूप में देखा और इन तीनों के अतिरिक्त अन्य किसी देव को अपनी आराधना का पात्र नहीं बनाया[४]।

बाल्यावस्था का और कोई दृश्य उपस्थित करने के पूर्व बाल्यकाल के नाम का संकेत भी अंतःसाक्ष्य के आधार पर देखिये—

"राम बोला नाम हौं गुलाम राम साहि को[५]।"

× × ×

"राम को गुलाम नाम राम बोला — —[६]।"

सम्भवतः इन्हें राम-नाम जपते देख लोग राम बोला कह कर पुकारते रहे हों।

तुलसीदास बाल्यावस्था में कहाँ बिलबिलाते थे, इसका कोई अंतःसाक्ष्य नहीं। पर, अनुमान किया जा सकता है कि जहाँ पैदा हुए थे उसी भूमि में मारे-मारे फिरते रहे होंगे और वहीं किसी रमते साधु ने दयार्द्र होकर उन्हें

---

१ ,, 'हनु० बा०' छ० ३८ "हौं तो बिन मोल ही बिकाने बलि बारे तें।"
२ ,, 'कविता' उ० छ० ४० "बालपने सूधे मन राम सन्मुख भये···।"
३ ,, 'हनु०बा०' छ० २१ "बालक बिलोकि, बलि, बारे तें आपनो कियो···।"
४ ,, 'वही' "४२ 'सीतापति 'साहेब' 'सहाय' हनुमान······ गुरुकै।"
५ 'कविता०' उ० छ० १००
६ '.वनय०' पद ७६

अपने साथ कर लिया होगा। तुलसी के बाल्यकाल का वह अंश जिसमें उनके हृदय में राम-भक्ति का बीज अंकुरित होकर बढ़ रहा था गुरु के साथ 'शूकर क्षेत्र[1]' में बीता। गुरु उन्हें बार-बार राम-कथा सुनाया करते और वे सरल हृदय की जिज्ञासु वृत्ति से उसे समझने की चेष्टा करते[2]।

इस प्रकार बाल्यकाल गुरु के समीप रामकथा के श्रवणादि में व्यतीत होता रहा। श्रवणादि को यहाँ व्यापक अर्थ में लेना चाहिये अर्थात् अध्ययनादि भी इसके अन्तर्गत मानना चाहिये क्योंकि बिना यथेष्ट अध्ययन के नानापुराण निगमागम का ज्ञान इन्हें कैसे प्राप्त होता। इससे स्पष्ट है कि बाल्यकाल में गुरु के पास उन्होंने विद्या एवं राम भक्ति दोनों का अक्षय भंडार प्राप्त किया। तदनन्तर सम्भवतः ये जन्मभूमि में रहे हों या कुछ कालोपरान्त रमते फकीर हुए हों। इस विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसका कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं कि गुरु का स्थान छोड़कर वे किधर बढ़े। हो सकता है कि सीधे पर्यटन करने में ही लग गये हों। इस विषय में कुछ और कहने के पूर्व गुरु के नाम का प्रसंग यहीं समाप्त कर देना चाहिये। कोई अंतःसाक्ष्य नहीं मिलता जिसके आधार पर हम गोस्वामी जी के उस महान् गुरु का नाम बता सकें जिसने इन्हें 'शुकर क्षेत्र' में कथा सुनाई और अमित विद्या-दान दिया। तुलसी ने अपना असली गुरु किसे माना है यह पहले ही संकेत किया जा चुका है। पर व्यावहारिक शिक्षा-गुरु का नाम उन्होंने नहीं दिया है। विद्वानों ने स्वामी रामानन्द की परंपरा से संबद्ध नरहर्यानंद को तुलसी का गुरु माना है। ऐसा करने के लिये—"बंदउ गुरुपद-कंज कृपा-सिंधु नर-रूप हरि[3]" के अतिरिक्त और कोई अंतः साक्ष्य नहीं। परंतु इस संबंध में 'नर रूप-हरि' का नरहर्यानंद अर्थ लगाना मनमाना हो जाता है। वस्तुतः 'नर-रूप-हरि[3]' से गुरु का श्रेष्ठत्व ही दिखाना मानना चाहिए। न कि नाम-निर्देश। गुरु का नाम जाने बिना हम गोस्वामी जी की गुरु-परंपरा का निर्देश कैसे कर सकेंगे, इस कठिनाई से बचने के लिये नरहर्यानंद को तुलसी का गुरु मान लेना उचित नहीं। वस्तुतः उनकी मान्य गुरु-परंपरा क्या थी इसे मैंने अपने ग्रंथ 'तुलसीदास और उनका युग' के[4] 'तुलसी की प्राचीन परंपरागत भक्ति'

---

१ 'मानस' बा० ३०.
२ 'मानस' ३०.१
३ 'मानस' बा० मंगलाचरण सोरठ ५
४ यह ग्रन्थ 'ज्ञानमंडल लि०' बनारस से प्रकाशित हुआ है।

शीर्षक परिच्छेद के अन्तर्गत 'गुरुपरंपरा' में विस्तार पूर्वक दिखाया है। अतएव उसकी चर्चा यहाँ नहीं की जाती।

तुलसीदास गुरु के यहाँ से कब और किस अवस्था में निकले और कहाँ गये इन प्रश्नों के विषय में हम कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं उपस्थित कर सकते। हाँ ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि गुरु के घर से लौटने के अनन्तर ये कुछ अनियत वर्षों तक चाहे तीर्थ-स्थलों में घूमते रहे हों चाहे गार्हस्थ जीवन ही बिताते रहे हों। इनके गार्हस्थ जीवन बिताने को भी हम अंतःसाक्ष्य से प्रमाणित नहीं कर सकते जैसा कि लोगों ने "बाहुक" की एक पंक्ति[1] और "दोहावली" के एक दोहे[2] से करना चाहा है। वस्तुतः इस विषय पर बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही विचार हो सकता है। अतः इसकी चर्चा आगे होगी। सं० १६३१ में ये अयोध्या में गोस्वामी तुलसीदास बने विराजमान् थे। वहीं राम के चरणों में सिर झुका कर 'रामचरित मानस' की रचना का प्रारम्भ कर रहे थे[3]। इससे इतना तो निर्विवाद है कि वे अयोध्या में भी रहते थे।

गोस्वामी जी के जीवन-चरित में अयोध्या के अतिरिक्त काशी भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उनके काशी से संबद्ध जीवन पर प्रकाश डालने वाले यथेष्ट अन्तःसाक्ष्य उपलब्ध हैं। काशी में ये गंगा जी के किनारे कहीं बाबा विश्वनाथ की शरण में रहते थे। देखिए—

"देवसरि सेवौं वामदेव गाँउ रावरे···।[4]"

× × × ×

"चेरो राम राय के सुजस सुनि तेरो हर,
पाँइतर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं।[5]"

उस 'सुरसरि तीर' के नाम का पता अंतःसाक्ष्य से नहीं चलता। फलतः इसका विवेचन बाह्यसाक्ष्य के आधार पर होगा। काशी में तुलसीदास का आगमन कब हुआ यह भी जिज्ञास्य है। सं० १६३१ में ये अयोध्या में विद्यमान् थे, इसलिए सं० १६३१ के उपरांत ही उन्हों ने काशी में पदार्पण किया होगा। कितने दिन बाद आए इसकी निश्चित तिथि अन्तःसाक्ष्य के

---

(१) दे० "बाहुक" छ० ४०
(२) „ 'दोहावली' दो० २५५
(३) „ 'मानस' बा० ३३.४,५
(४) 'कविता०' उ० छ० १६५
(५) वही „ „ १६६

आधार पर नहीं कही जा सकती। 'मानस' के किष्किंधा कांड का सोरठा—"जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न।[1]" से व्यंजित होता है कि इसके पूर्व वाले कांडों की रचना अयोध्या ही में समाप्त कर तब बाबा जी काशी सेवन करने आए। इतने रुचिर तीन कांडों की रचना जितने भी वर्षों में मान ली जाय, सं० १६३१ के उतने ही समयोपरान्त इनका काशी में आगमन मानना चाहिए। 'पार्वती मंगल' का रचनाकाल उसके अन्तः-साक्ष्य के आधार पर सं० १६४३[2] है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'मानस' की रचना का समारम्भ सं० १६३१ में अवध में हुआ और उसके अन्तिम चार कांडों की समाप्ति काशी में हुई। इससे इतना अनुमान तो अवश्य ही किया जा सकता है कि वे काशी में सं० १६३१ और १६४३ के बीच किसी समय आए और तदनन्तर स्थायी रूप से यहाँ रहे। स्थायी रूप से रहने की तिथि-निर्देश के मेरे इस अनुमान का अभिप्राय यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह समय उनका आद्य काशी आगमन सूचित करता है। प्रारंभिक काशी—आगमन कब हुआ। यह नहीं कहा जा सकता। "रामाज्ञा-प्रश्न" के रचनाकाल के अन्तःसाक्ष्य पर एवं उसमें प्रयुक्त 'गंगाराम' नाम देख कर कुछ विद्वान् उनका काशी-आगमनकाल सं० १६२१ के पहले मानते हैं[3]। हो सकता है इस तिथि के पूर्व वे बतौर यात्री के काशी आए हों।

यों ही किसी स्थान के व्यक्ति भी किसी नवीन आगन्तुक को देख चौंकते हैं। यदि आगन्तुक में कुछ निरालापन हुआ तो फिर कहना ही क्या। तुलसी दास के काशी आगमन के अवसर पर कदाचित् ऐसा ही हुआ। उनकी उदार राम-भक्ति को रूढ़िवादियों ने और का और ही समझा, फलतः उनके विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हुईं—कुछ लोगों ने 'कुसाज'—कर्त्ता समझा, अन्य लोगों ने भारी 'दगाबाज' तक कह डाला और कुछ विचार-शीलों ने राम का खरा भक्त माना[4]। इस प्रकार काशी के लोगों ने प्रवाद फैलाए, पर उनका हृदय विचलित नहीं हुआ। वे अपने भक्ति-मार्ग पर डटे रहे। रामनाम के अमृत से अपनी तृषा शांत करते हुए काशी—सेवन करते ही

---

(१) 'मानस' किष्कि० मंगलाचरण
(२) 'पार्वती मंगल' छ० २
(३) 'ना० प्र० प०' भाग १६, पृ० ३१५
(४) 'कविता' उ० छ० १०८ "कोऊ कहै करत कुसाज···।"

रहे। "मांगि कै खैबो मसीत को सोइबो[१]" से भी परितुष्ट रहे। गोस्वामीजी को काशी में जिन विविध प्रकार के संघर्षों का सामना करना पड़ा उन सबका निर्देश करने के पूर्व उनके मूल कारणों को समझ लेना चाहिए।

काशी शिवकी पुरी होने के नाते सदा से शैवों की गढ़ रही है। अन्य प्रकार के पंथी भी अपने-अपने घोंसले यहीं लगाकर रहते चले आए हैं। शैवों के जोड़ का दूसरा सम्प्रदाय वैष्णवों का है. वह भी काशी का सेवन बहुत दिनों से करता चला आ रहा है। एक बन में दो सिंहों के रहने पर शांति कैसी? हां, छोटे-मोटे जीव भले ही इधर-उधर रह सकते हैं। यही दशा काशी में थी। सिंहवत् शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में संघर्ष चला करता था। उसी अवसर पर बाबा जी भी अपनी झोली लिए आए। इनकी राम-भक्ति के नाम से ही शैवों ने यदि इन्हें वैष्णव मान कर इनका तिरस्कार किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके अतिरिक्त वैष्णवों ने भी इनकी शिव में दृढ़ आस्था देखकर और रामभक्ति का विशेष उदार स्वरूप पाकर इन्हें ढोंगी समझा हो तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं। 'देव भाषा' को छोड़कर 'भाखा' में भगवान् का चरित लिखना भी कट्टर पंडितों के विरोध का कारण हो सकता था। अन्य पंथियों ने इन्हें अपने पंथ के संकीर्ण घेरे का जीव न पाकर इनकी उपेक्षा की हो यह भी सम्भव था। अन्धी जनता में इतनी क्षमता ही नहीं होती कि वह तुरन्त किसी महान् व्यक्ति के महान् लक्ष्य को समझ ले। इन्हीं कारणों ने तुलसीदास को काशी में आते ही मान-प्रतिष्ठा नहीं पाने दिया प्रत्युत कुछ समय तक तिरस्कार का लक्ष्य बनाया।

खलों के द्वारा विरोध तो हुआ ही करते हैं। उसके लिये कोई कारण नहीं ढूंढना चाहिए। कुछ दुष्ट लोग गोस्वामी जी को अवश्य तंग करते थे, आंख दिखाते थे[२]। कुचाल भी चलते थे[३]। ये दुष्ट कौन थे? हो सकता है कि वे कुछ ईर्ष्यालु या संकीर्ण साम्प्रदायिकता के ढोंगी लफंगे रहे हों।

शिव के भक्त कहे जाने वालों में भी कुछ लोगों ने गोस्वामी जी को कष्ट पहुँचाया था। सम्भवतः उन लोगों को आशंका हुई हो कि कहीं तुलसी की रामभक्ति का प्रचार इतना अधिक न हो जाय कि शैव धर्म को भी दबाने लगे, ऐसा सोचकर शिव के उपासकों ने उनका घोरतम विरोध किया और उनके

(१) वही ,, ,, १०६
(२) 'दोहावली' दो० १४४ 'तुलसी रघुबर सेवकहिं······।
(३) वही ,, १४५ "रावन रिपु के दास तें·········।

विरोध ने तुलसी का धैर्य छुड़ा-सा दिया और वे काशी छोड़ने के लिये सन्नद्ध हो गये—

"दवे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक
लिखी न भलाई भाल, पोच न करत हौं।
एते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै,
ताको जोर, देव दीन द्वारे गुदरत हौं॥
पाइकै उराहनो उराहनो न दीजै मोहिं,
काल-कला कासीनाथ कहे निबरत हौं[१]॥"

'विनय पत्रिका' में भी शिव के सेवकों की कठोरता का उलाहना दिया गया है[२]। इस उलाहने का क्या फल हुआ! इसका कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं। इतना अवश्य अवगत होता है कि इसके बाद भी उन्होंने काशी नहीं छोड़ी। वे निर्भीकता से अपना धैर्य सँभाल कर समस्त विरोधों को सच्चे रामभक्त की भाँति राम के भरोसे सहते रहे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि विरोधी कुछ नहीं कर सकेंगे। राम उनकी रक्षा करेंगे[३]। ऐसा ज्ञात होता है कि कदाचित् विरोधियों ने इनका प्राणान्त करने का आयोजन भी किया था[४]।

गोस्वामी जी के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण कुछ विरोधी उन्हें अपमानित करने के लिए कदाचित उनकी जाति-पाँति को निम्न कह कर घोषित करते-फिरते थे। ऐसा अपवाद सुनते-सुनते उन्हें कुछ विशेष क्षोभ हुआ और उन्हों ने उन अपवादों का मुँहतोड़ उत्तर भी दिया—

"धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगारन सोऊ[५]॥

छन्द में प्रयुक्त 'धूत', 'अवधूत', 'जोलहा' शब्दों से यही सूचित होता है कि विरोधियों ने इसी प्रकार का प्रवाद फैलाया होगा कि यह धूर्त नीच जाति का है; हो न हो कोई रामानंदी या कबीर-पंथी जुलाहा हो अथवा कोई इतर वर्ण हो किन्तु ब्राह्मण नहीं। सम्भवतः गोस्वामी जी ने इन्हीं

(१) 'कविता' उ० छ० १६५
(२) विनय०' पद ८
(३) 'कविता०' उ० छ० ४८
(४) 'विनय०' पद १३७
(५) कविता०' उ० छ० १०६

प्रवादों की अति देख कर अपनी लेखनी को कुछ उग्र किया और 'कवितावली'[1] एवं 'विनयपत्रिका' के कुछ छंदों में उत्तर भी दिया। इन उत्तरों में उन्हों ने अपनी जाति ब्राह्मण न कह कर वही जाति और वही गोत्र बताया है जो उनके स्वामी राम का है। वे अपनी जाति क्यों नहीं बताते थे। इसका कारण यही हो सकता है कि त्यागी भक्त होने के नाते वे सांसारिक परिचय को उपेक्षणीय समझते थे। एक बार मैंने एक बैरागी साधु से यह प्रश्न किया कि महाराज! मैं आपका परिचय चाहता हूँ? उन्हों ने मेरी श्रद्धा का तिरस्कार न करके अपना नाम बाबा रामदास बताया। मैंने फिर पूछा आपका पहला नाम क्या था? उत्तर मिला, 'यह सब पूछ कर क्या करोगे'। जब मैंने उनके जन्म-स्थान, वर्ण आदि का प्रश्न छेड़ा तो उन्हों ने बड़ा ही कटु उत्तर दिया। मैंने हाथ जोड़ कर कहा—"बाबा! किस अपराध पर इतने रुष्ट हो गए।" बाबा ने कहा "बच्चा! रुष्ट होने की बात नहीं। हमारा पंथ ही ऐसा है कि उसमें आने पर हमें पिछले नाम, ग्राम, वर्ण, माता-पिता आदि किसी का नाम लेना वर्जित है।" यह सुन कर मैं चुप रहा। इस घटना की ओर संकेत करने का अभिप्राय यह है कि कदाचित तुलसीदास भी ऐसी ही परंपरा में दीक्षित हुए हों और उसके अनुसार उन्हों ने जाति-पाँति का विशेष परिचय नहीं दिया।

उनकी जाति-पाँति को लेकर विरोध खड़ा करने वाले कौन थे? हो सकता है कि यह ब्राह्मणों की करतूत रही हो। वे 'मानस' की रचना आदि से शंकित हो गए हों कि कहीं हम लोगों का सम्मान तुलसीदास को न मिल जाए और हमारी पंडिताई को धक्का लगे।

उपर्युक्त विरोधों के अतिरिक्त चोर-चाइयों के उपद्रव भी हुए थे। ये नीच, बाबा जी की कुटिया में भी अपनी कला दिखा आए थे। 'दोहावली'[3] में उन्हों ने इन चोरों की शिकायत भी शंकर से की है।

इन प्रसंगों से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि काशी ने इस महान् आत्मा का मूल्य बहुत दिनों तक नहीं समझा था। तभी तो उन्हें इतने विरोधियों का सामना करना पड़ा। सत्य सत्य ही है। निष्प्रभ ज्योतियाँ

---

(१) वही „ „ १०७, "मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति·· ···।"

(२) 'विनय०' पद ७६ "लोग कहैं पोचु सो न सोच न सकोच···।"

(३) 'दोहावली' दो० २३६ "बासर ढासनि के ढका······।"

मार्तंड को कैसे दबा सकती थीं। कालान्तर में काशी के भ्रांत लोगों ने अपनी भूल समझ ली। उन्हें तुलसी की महत्ता और उनके व्यापक उद्देश्य का दर्शन हो गया। लोग अपने किए कर्मों पर पश्चात्ताप कर तुलसी के चरणों पर झुके। जिस काशी वालों ने पहले अपमान किया था वे ही बड़े सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। नीचे कुछ ऐसे अवतरण दिये जाते हैं जिनसे तुलसीदास के सम्मान का पता चलता है—

"राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा, प्रताप,
तुलसी से जग मनियत महामुनि सो[१]।"

× × ×

"घर घर माँगे टूक, पुनि भूपनि पूजे पाय।
जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय[२]॥"

× × × × ×

"हौं तो सदा खर को असवार, तिहारो ही नाम गयंद चढ़ायो[३]॥"

अन्त में, उनके सम्मान की वृद्धि यहाँ तक हुई कि वह उन्हें खलने लगा। अत्यधिक सम्मान पाने के पश्चात् कदाचित् दर्शनियों की भरमार के कारण उनके राम-भजन में कुछ विघ्न पड़ने लगा था। यह बात 'हनुमान बाहुक' के कुछ छंन्दों से परिलक्षित होती है। बरतोर की वेदना होने के समय उन्हें अपने सम्मान पर भारी ग्लानि भी हुई थी; उन्हें कुछ ऐसा आभास होता था कि सम्मान में पड़ कर मैंने भक्ति की कमी कर दी, इसी पाप का फल पा रहा हूँ; उन्हें आत्म-ग्लानि होती थी—मैं लोकरीति में पड़ गया, गोसाईं बन कर सम्मानित हो बैठा और दरिद्रता के दिनों को भूल गया और उसी का दंड भोग रहा हूँ[४]। मेरे शरीर से 'राम राय' का 'लोन' बरतोर के बहाने निकल रहा है[५]। वे सच्चे सन्त थे अतः उन्हें अपने सम्मान से अरुचि हो गई थी, पर उनका सम्मान उनकी रुचि के विपरीत भी बढ़ता ही गया और उनकी मृत्यु के बाद यह और भी बढ़ता जा रहा है।

गोस्वामी जी को अपनी वृद्धावस्था में कुछ आधिव्याधियाँ भी सहनी

(१) 'कविता०' उ० छं० ७२
(२) 'दोहावली' दो० १०६
(३) 'कविता०' उ० छं० ६०
(४) 'बाहुक' छं० ४० "परयो लोकरीति मैं……।"
(५) वही „ ४१ "नीच यहि बीच पति पाइ…।"

पड़ी थीं। 'कवितावली'[१] और 'विनयपत्रिका'[२] दोनों में कुछ ऐसे छन्द हैं जो स्पष्टतः प्रकट करते हैं कि उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा थी जिसकी शांति के लिये उन्हों ने राम, हनुमान् तथा शिव से प्रार्थना की। इस प्रकार की अनिश्चित पीड़ा के अतिरिक्त उनको बाहुपीड़ा की भी असीम वेदना सहनी पड़ी[३]। इस वेदना का प्रकोप अधिक दिनों तक रहा[४]। उन्हें यहाँ तक विश्वास हो गया था कि 'कुरोग राढ़ राकसनि' उन्हें खा गए होते यदि 'केसरी-किसोर' बरिआई न बचा लेते[५]। अन्त में, राम की कृपा से इस पीड़ा का निवारण हो गया[६]। यह पीड़ा कब हुई थी इसका कोई अन्तः-साक्ष्य नहीं; फिर भी 'कवितावली' के 'रुद्रबीसी' के छन्दों से ध्वनित होता है कि इस वेदना के समय रुद्रबीसी वर्त्तमान थी[७]। यही नहीं, मीन की शनीचरी भी विराजमान थी[८]। भीषण महामारी भी रुद्र का रोष प्रकट करती थी, गोस्वामी जी ने उसे भी अपने इष्टदेव राम से शांत कराया[९]। इन तीनों विशिष्ट घटनाओं की तिथि पर विचार करना भी आवश्यक है पर इसे बहुतों ने बाह्य साक्ष्यों के आधार पर कर दिया है अतः दुहराने की आवश्यकता नहीं।

अन्य व्याधि जिससे तुलसीदास जी आक्रांत हुए वह थी बरतोर की फोड़िया। इसके कारण भी वे बहुत ही संतप्त हुए। इस बार भी उन्हों ने हनुमान् एवं शिव की अनुनय-विनय की और 'रोगसिंधु' को 'गायखुर' करने की याचना की[१०]। अन्त में, यह कह कर मौन हो गए कि कोई हर्ज नहीं, मैंने जैसा बोया है वैसा ही काटूँगा[११]। इसके अनन्तर कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं

---

(१) दे० 'कविता०' उ० छ० १६६, १६७
(२) ,, 'विनय' पद १९५
(३) दे० 'दोहावली' दो० २३४-३६ 'बाहुक' छ० २०-३४, ३६, ३७
(४) 'बाहुक' छ० २८, ३०
(५) 'वही०' छ० ३५
(६) वही ,, ३९
(७) 'कविता०' उ० छ० १७०
(८) वही ,, ,, १७७
(९) वही ,, ,, १८३
(१०) 'बाहुक' छ० ४३
(११) वही ,, ४४

मिलता जिसके आधार पर हम कह सकें कि ये बरतोर से स्वस्थ हुए किंवा इसी से सर्वदा के लिए मौन हो गए।

बिना खींच-तान के अंतःसाक्ष्यों के आधार पर काशी में व्यतीत जीवन का जो अंश चित्रित किया जा सकता था उसका उल्लेख हो चुका। अयोध्या और काशी के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे स्थान भी थे जहाँ वे अवश्यमेव गये थे अथवा आते-जाते थे, इसका प्रतिभास भी अन्तःसाक्ष्य देते हैं। कवितावली[१] 'रामचरित मानस[२]' 'विनय पत्रिका[३]' और सब से अधिक 'गीतावली[४]' के कुछ मधुर गीतों को देखने से स्पष्ट धारणा होती है कि तुलसीदास चित्रकूट के वातावरण से पूर्ण अभिज्ञ थे। यदि वे काशी का सेवन इसे शंभु-भवानी का निवास स्थान मान कर करते थे तो चित्रकूट को राम का विहार-स्थान जान कर अवश्य सेते रहे होंगे। इन्हें चित्रकूट में परम शांति मिली थी—

"अगनित गिरि-कानन फिरयौं, बिनु आगि जरयौं हौं।
चित्रकूट गए मैं लखी कलि की कुचालि सब, अब अपडरनि डरयो हौं[५]॥"

'विनयपत्रिका' की एक पंक्ति से कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि तुलसीदास को चित्रकूट में ही राम की कुछ विशेष लीला दिखाई पड़ी थी; कदाचित् वहीं उन्होंने राम का दर्शन पाया था—

"तुलसी तोकों कृपालु जो कियो कोसलपाल
चित्रकूट को चरित चेति चित करि सो[६]।"

उनके तीर्थराज-गमन का वृत्तांत भी कवितावली के कुछ छन्दों[७] से प्रतिभासित होता है। 'सीताबट' वाले पदों[८] से अभिव्यक्त होता है कि वे वहाँ भी गए थे। बदरिकाश्रम का चित्रण जिसे हम "विनयपत्रिका[९]" में पाते हैं

(१) 'कविता०' उ० छ० १४१, १४२
(२) 'मानस' अयो० का चित्रकूट वर्णन।
(३) 'विनय०' पद २३, २४
(४) 'गीतावली' अयो० गीत ४४, ४६, ४७, ४८, ५०
(५) 'विनय०' पद २६६
(६) वही ,, २६४
(७) 'कविता०' उ० छ० १४४-४७
(८) वही ,, ,, १३८-४०
(९) 'विनय' पद ६०

उससे उनके बदरीनारायण जाने का संकेत मिलता है। अस्तु, उक्त अन्तः साक्ष्यों से इतना तो ज्ञात ही हो जाता है कि बाबा जी पर्यटन भी करते थे।

बाह्य साक्ष्यों से जीवनी के ग्राह्य अंश

विशुद्ध अन्तः साक्ष्यों के आधार पर अभी तक जो निर्विवाद जीवनी प्रस्तुत की गई वह अपूर्ण है। उसे सांगोपांग बनाने के लिये अब बाह्य साक्ष्यों का आश्रय लेकर विवेचन करना होगा। बाह्य साक्ष्यों की आधारभूत सामग्री क्या होनी चाहिए। इस प्रसंग में थोड़े में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी कवि के जीवन चरित-निर्माण के सम्बन्ध में उसके सन्निकट एवं साहचर्य में रहने वाले व्यक्ति की सम्मति विशेष महत्त्वपूर्ण होती है और जहां निकटवर्ती व्यक्ति के द्वारा कोई जानकारी न उपलब्ध हो, वहां समकालीन व्यक्ति की सम्मति उपादेय होती है; जहां समकालीन व्यक्ति से भी कोई लाभ न हो, वहां कवि के स्वलिखित किसी प्रकार के पत्र आदि जो जीवन-सामग्री प्रस्तुत करने में दूरोपकारक हों उन्हें ही उत्तम कोटि का बाह्य साक्ष्य मानना चाहिये। जन-श्रुतियों और अलौकिक चमत्कारों की गणना बाह्य साक्ष्यों की अन्तिम कोटि में करनी चाहिये।

उत्तम बाह्य साक्ष्यों में सर्वप्रथम हमारी दृष्टि "भक्त-माल' की ओर जाती है। यह नाभादास की कृति है। इसका रचनाकाल सं० १६४२ के बाद माना गया है[१]। नाभाजी सं० १६५७ के लगभग विद्यमान् थे और गोस्वामी जी की मृत्यु के बहुत दिन पीछे तक जीवित रहे। इन्होंने तुलसीदास के विषयमें जो कुछ कहा है वह 'भक्तमाल' के एक ही छप्पयमें है। उस छप्पय का आशय यह है कि वाल्मीकि स्वयं तुलसीदास होकर आए और कलिके कुटिल जीवोंको भवसागरसे पार उतारनेके लिए उन्होंने 'रामचरित मानस' रूप नौकाका निर्माण किया[२]। इस छप्पयसे इतना सूचित होता है कि तुलसीदासको अपने जीवन कालमें 'मानस' रचनाके उपरांत बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ और मानसकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। अंतः साक्ष्यके आधार पर भी दिखाया जा चुका है कि वे वाल्मीकि कहलाते थे। पूर्ण ग्राह्य होते हुए भी यह साक्ष्य इतना संक्षिप्त है कि

(१) दे० रामचन्द्र शुक्लः 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' (नवीन संस्करण) पृ० १७७।

(२) „ "भक्तमाल सटीक" छप्पय २२६ 'कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।

इससे हमारे कविके जीवन चरितकी पूर्णता नहीं होती। अतः अन्य बाह्य साक्ष्योंकी ओर बढ़ते हैं।

'भक्तमाल की टीका' इसे प्रियादासने सं० १७६९ में लिखी[1]। इन्होंने उक्त छप्पय की बीज–कथाको अपनी टीकामें काफी परिवर्धित किया है। हमारे सामने तुलसीदासके जीवन–चरित का बड़ा ही चमत्कारमय खाका खींचा है[2]। प्रियादासके चित्रण से बुद्धिवादी सहमत नहीं होंगे, भले ही यथा-श्रुत ग्राही श्रद्धालु भक्त-जन उन सभी घटनाओं को सम्भाव्य मान लें। अस्तु, इस टीका से हम अधिक से अधिक ग्राह्य अंश छन्द ५०० में वर्णित वह बात लेंगे जिसके द्वारा ज्ञात होता है कि तुलसीदास विवाहित हुए थे और पत्नी में इनकी आसक्ति बड़ी तीव्र थी। सम्भवतः वे उसे क्षण मात्रके लिए भी अपने से पृथक् नहीं कर सकते थे। स्त्री उन्हें बिना सूचित किए ही पीहर चली गई और मालूम होने पर वे तत्काल ही ससुराल पहुँच गए। लज्जावश आवेश में आकर स्त्रीने व्यंग वचन कहा और उनके हृदय में प्रभात हो गया। प्रियादास की टीका से यह अंश ग्राह्य इसलिये समझा गया कि गोस्वामी जी के वैवाहिक जीवन को अन्य ग्रंथकारों ने तो स्वीकार ही किया है साथ ही आज तक के सभी समालोचक और समस्त जनता मानती चली आ रही है। वह बात जो इस प्रकार सर्वमान्य हो उसे अस्वीकार करना उचित नहीं दिखाई पड़ता दूसरे, जब गोस्वामीजी की रचनाओं में यह नहीं मिलता कि उनका विवाह नहीं हुआ था और न यही मिलता है कि उन्होंने वैवाहिक जीवन बिताया था, ऐसी स्थिति में यदि लोगों की धारणा है और उसके मानने में कोई हानि नहीं तो हम भी क्यों न मान लें कि तुलसीदास ने दाम्पत्य जीवन का उपभोग किया था। जब हम उनका गार्हस्थ जीवन मान लेते हैं तो 'हनुमान बाहुक' की पंक्ति—"परयौ लोक रीति में, पुनीत प्रीति रामराय, मोहबस बैठो तोरि तरकि तराक हौं[3]।" विवाह की ओर संकेत करती है, यह भी मान लेना चाहिये। इतना ही नहीं, दोहावली के—

"खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग[4]।
कै खरिया मोहिं मेलिकै विमल विवेक विराग॥"

---

(१) दे० 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० १७७
(२) दे० 'भक्तमाल सटीक' टीका छ० ५००–५१०
(३) 'बाहुक' छ० ४०
(४) 'दोहावली' दो० २५५

का सम्बन्ध भी इससे जोड़ा जा सकता है।

प्रियादास के चमत्कारमय चित्र का सहारा लेकर राजा प्रतापसिंह ने अपने "भक्त कल्प-द्रुम[1]" में, महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने 'भक्तमाल' में और महाराज रघुराजसिंह ने 'भक्त-माल राम-रसिकावली[2]', में तुलसीदास का जीवन-चरित लिखा है। इन तीनों राजाओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया जीवन-चरित कहाँ तक उपादेय हो सकता है जब कि इसके आधार ही की उपादेयता संदिग्ध है!

'प्रियादास की टीका' के पश्चात् हम "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" की ओर आते हैं क्योंकि यह गोस्वामी जी के समकालीन गोकुलनाथ जी की कृति घोषित की गई है। परन्तु इसे गोकुलनाथ जी की कृति होने में संदेह है, इसकी भाषा बहुत बाद की प्रतीत होती है[3]। इसमें वर्णित बातों से भी स्पष्टतया लक्षित हो जाता है कि वे भक्तों का गौरव प्रचलित करने और बल्लभाचार्य की गद्दी की महिमा प्रकट करने के लिये पीछे से लिखी गई हैं[4]। इस दशा में इसमें सन्निविष्ट बातों को प्रमाण रूप में ग्रहण करना ठीक नहीं जँचता। अस्तु; इसमें प्राप्त तनिक-सी सामग्री अग्राह्य एवं विवाद-ग्रस्त समझ कर छोड़ी जाती है।

समकालीन व्यक्तियों के निर्देशों से जो सामग्री उपलब्ध होती है उससे भी हमारे कवि का जीवन चरित अपूर्ण रह जाता है। अतः सम-सामयिकों के अतिरिक्त अन्य प्राचीन बाह्य साक्ष्यों की ओर झांकने की आवश्यकता पड़ती है। इस ओर, सर्वप्रथम, हमारा ध्यान 'गोसाईं चरित' पर जाता है। इसकी सब से पहले चर्चा चलाने वाले हैं शिवसिंह सेंगर। इन्हों ने अपने 'शिवसिंह सरोज' में गोस्वामी जी के शिष्य पसका ग्राम निवासी महात्मा बेनीमाधवदास को इस ग्रन्थ का रचयिता बताया है[5]। सेंगर जी ने 'गोसाईं चरित' के विषय में जो कुछ लिखा है उससे प्रकट होता है कि उन्हों ने इस ग्रंथ को स्वयं नहीं देखा था और न इसके विषय में उनकी कोई विशेष जानकारी थी। इधर के विद्वानों ने भी 'गोसाईं चरित' को प्राप्त करने के

(१) दे० 'भक्त कल्पद्रुम' पृ० १०६—११२
(२) ,, भक्तमाल रामरसिकावली" अध्या० ६० पृ० ७८२—८०५
(३) 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ४८०
(४) वही पृ० २११
(५) 'शिवसिंह सरोज' पृ० ३८६; ३६४

लिये काफी प्रयत्न किया पर उन्हें भी शिवसिंह से अधिक जानकारी न मिली। 'गोसाईं चरित' जब कि स्वयं एक रहस्य का ग्रंथ बना हुआ है तो उससे तुलसीदास के जीवन-चरित निर्माण के हेतु कोई ग्राह्य अंश या साक्ष्य ढूढ़ना निस्सार ही है।

'गोसाईं चरित' से हताश होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि बेनीमाधव विरचित 'मूल गोसाईं चरित' कवि के जीवन-चरित-निर्माण की सभी आवश्यकताओं से युक्त, हमारे सामने छप्पर फाड़ कर गिरता हुआ दिखाई पड़ता है। इसमें जीवन-चरित-निर्माण के लिए सभी अपेक्षित वस्तुएँ तो सम्यक् रूप में वर्तमान ही हैं, एक से एक बढ़ कर चमत्कारमयी घटना भी सन्निविष्ट है। इसकी ग्राह्य और त्याज्य सामग्री पर विचार करने के पहले इसकी प्रामाणिकता पर किंचित प्रकाश डालना आवश्यक है। वस्तुतः 'मूल गोसाईं चरित' की प्रामाणिकता संदिग्ध है। इसमें वर्णित चमत्कार सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं। ऐसी घटनाएँ या तिथियाँ जिनकी सत्यता की परीक्षा इतिहास या ज्योतिष से की जा सकती है वे कुछ ही अंशों में प्रामाणिक ठहरती हैं। उसमें कुछ ऐसी तिथियाँ और घटनाएँ भी वर्तमान हैं जिनकी सत्यता तुलसी की कृतियों के आधार पर कुछ अंशों में असंदिग्ध मानी जा सकती है। इस दशा में यह ग्रंथ पूर्ण रूप से अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। भले ही इसमें प्रयुक्त 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से उसकी कलई खुल जाती हो, फिर भी यह गोस्वामी जी की जीवनी के निर्माण में कुछ न कुछ सामग्री अवश्य प्रदान करता है।

जीवनी में जन्म-तिथि बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। 'मूल गोसाईं चरित' तुलसी की जन्म-तिथि सं० १५५४, श्रावण शुक्ल पक्ष की सप्तमी बताता है—

'पंद्रह सौ चौवन विषै कालिंदी के तीर।
स्रावन सुक्ला सत्तिमी तुलसी धरेउ शरीर[1]॥"

यह तिथि गणना से ठीक नही उतरती। यदि यह गणना से ठीक ठीक उतरती तो भी इसे ग्राह्य नहीं होना चाहिए क्योंकि इसके अनुसार विचार करने पर 'मानस' रचना के समय तुलसीदास की अवस्था सतहत्तर वर्ष ठहरती है। ऐसी अवस्था में मानस सदृश सर्वरसमय महाकाव्य की रचना करना कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। अतः जन्म-तिथि के लिये हम और कोई बाह्य साक्ष्य ढूढ़ेंगे।

---

(१) 'मूल गोसाईं चरित' दो० २

गोस्वामी जी की निधन-तिथि 'मूल गोसाईं चरित' में यों दी गई है—

"संवत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
साँवन स्यामा तीज सनि, तुलसी तजेउ सरीर[1]॥

यह तिथि ज्योतिष की गणना से बिलकुल ठीक उतरती है और इसी तिथि को टोडर के वंशज अब तक गोस्वामी जी के नाम पर सीधा देते हैं[2]। अतः इसकी सर्वमान्यता और ग्राह्यता स्वीकार करने योग्य है।

तुलसीदास के बाल्यकाल के नाम 'रामबोला' का उल्लेख भी 'मूल गोसाईं चरित' में किया गया है[3]। इस नाम का समर्थन अन्तः साक्ष्य से हो जाता है। गोस्वामी जी के पिता के नामोल्लेख पर 'मूल गोसाईं चरित' मौन है। माता का नाम अवश्य दिया है। इसके अनुसार उनकी माता का नाम हुलसी[4] था। इस नाम की पुष्टि तुलसी के समकालीन अब्दुर्रहीम खानखाना के दोहे का उत्तरार्द्ध 'गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सों सुत होय' से भी होती है। 'मानस' की चौपाई में "रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।" भी माता के हुलसी नाम का संकेत मिलता है।

जननी के अनन्तर जन्म-भूमि का निर्देश भी 'मूल गोसाईं चरित' करता है। इसके अनुसार यमुना के किनारे स्थित राजापुर ग्राम में गोस्वामी जी अवतीर्ण हुए[5]। इसकी पुष्टि भी कई बाह्य साधनों से हो जाती है। इसे कुछ विस्तारपूर्वक आगे दिखायेंगे।

'मूल गोसाईं चरित' का जो स्वरूप हमारे सामने उपस्थित है उसमें से कुछ न कुछ उपयुक्त एवं उपादेय है। भले ही उसके अंश सन्दिग्ध हों, पर विवेक की कसौटी पर परख कर हम इनसे भी कुछ सामग्री ग्रहण कर सकते हैं। इसके विपरीत वह ग्रन्थ जिसका कोई स्वरूप ही हमारे सामने नहीं चाहे वह बृहत्काय ही क्यों न हो, उससे क्या सामग्री मिल सकती है ? इसी प्रकार का एक ग्रन्थ है "तुलसी चरित" जिसके रचयिता गोस्वामी जी के शिष्य कोई बाबा रघुबर दास बताए गये हैं। ऐसी प्रतीति होती है कि

---

(१) 'मूल गोसाईं चरित' दो० ११६
(२) दे० 'रामचरित मानस' सम्पादक विजयानन्द त्रिपाठी, भूमिका पृ० ११
(३) ,, 'मूलगोसाईं चरित' दो० ४.२
(४) ,, वही ,, १.३
(५) ,, वही ,, १.६, ७

'तुलसी चरित' के नाम पर कुछ लोग जीवनी–निर्माण का एक जाल बनाना चाहते थे, पर वह बन न सका। विचारशीलों ने ताड़ लिया कि 'तुलसी चरित' कोई ग्रंथ ही नहीं है। भविष्य में कहीं वह समूचा निकल न पड़े इसी से 'मर्यादा' में छपे उसके अंश को भी सभी ने एक स्वर में अप्रमाणित घोषित कर दिया। मैं भी ऐसे पूर्ण संदिग्ध अंश से कुछ भी नहीं ग्रहण करना चाहता।

'तुलसी चरित, का अनावश्यक विवरण यहीं छोड़, अब हम हाथरस वाले तुलसी साहिब के 'घट रामायण' से प्राप्त सामग्री पर विचार करें गे। तुलसी साहिब का काल लगभग सं० १८१७—६६ माना गया है[1]। 'घटरामायण' में इन्हों ने दिया है कि पूर्वजन्म में मैं ही तुलसीदास था। उस जन्मातर की एक अपूर्ण जीवनी भी दी है[2]। उस जन्म में तुलसी साहिब तुलसीदास रहे हों या न रहे हों इस पर तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं। पर इस जन्म में अपने पूर्वजन्म की जीवनी लिखते समय उन्हों ने अवश्य कुछ छान-बीन की होगी। यदि ऐसा न किया हो तो भी इन पुरानी बातों का मूल्य कुछ न कुछ अवश्य है। अतः तुलसी साहिब के पूर्वजन्म के आत्म-चरित से हम यह ग्राह्य अंश लेते हैं—

'राजापुर जमुना के तीरा। जहँ तुलसी का भया सरीरा॥
विधि बुंदेलखंड वोहि देसा। चित्रकोट बीच दस कोसा॥
संवत पंद्रा सै नावासी। भादौ सुदी मंगल एकादसी॥
भया जन्म सोइ कहौ बुझाई। बाल बुद्धि सुधि बुधि दरसाई॥
तिरिया वरत भाव मन राता। बिधि-बिधि रीत चित्त संग साथा[3]॥'

यमुना-तट का राजापुर ही गोस्वामी जी की जन्मभूमि है, इसका समर्थन तो यह अवतरण कर ही रहा है साथ ही जन्म-तिथि का जो निर्देश इसमें मिल रहा है उसकी उपादेयता और निर्बाध है। ज्योतिष की गणना के अनुसार यह तिथि पूर्ण रूप से शुद्ध उतरती है। अतः यही जन्म-तिथि सर्वथा मान्य है। सारांश यह कि तुलसीदास का जन्म संवत् १५८९, भादौं सुदी एकादशी, बार मंगलबार को हुआ। सरजार्ज ग्रियर्सन ने जनश्रुतियों के आधार पर सन् १५३२ ई० (सं० १५८६) में गोस्वामी जीका जन्म-ग्रहण करना माना

(१) क्षितिमोहन सेन, "मिडिवल मिस्टीसिज्म आव इंडिया पृ० १६०-६१
(२) 'घटरामायण' भाग २ पृ० ४१४-४१८
(३) वही ,, ,,पृ० ४१५

४

है[1]। प्रायः और लोगों को भी यही मान्य है। 'घटरामायण' से इसकी प्रामाणिकता और भी बढ़ जाती है।

अब हम महाराष्ट्री कवि मोरो पंत कृत 'तुलसीदास स्तव'[2] के ग्राह्य अंश की चर्चा करते हैं। 'तुलसीदास स्तव' के रचयिता का समय सं० १७८६–१८५१ है। 'स्तव' कार ने ग्रन्थ में जीवनी न लिखकर वस्तुतः तुलसी की प्रशस्तियों को छन्द-बद्ध किया है। मोरो पन्त ने भी नाभादास की भांति तुलसीदास को वाल्मीकि का अवतार माना है। उनके विषय में विविध-चमत्कारों का भी उल्लेख किया है। इसमें कोई विशेष ग्राह्य अंश नहीं दृष्टिगत होता। हाँ, इसके आधार पर इतना तो दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि तुलसीदास की प्रभाव-रश्मियाँ महाराष्ट्र में भी फैली थी।

तुलसीदास की स्वलिखित सामग्री से जीवन-चरित निर्माण का जो उपादान उपलब्ध होता है। उसमें सं० १६६९ का लिखा हुआ पंचायतनामा विशेष उल्लेखनीय है। आजकल यह काशिराज के निजी संग्रह में है। पहले यह टोडर के उत्तराधिकारियों के पास था। इस पंचायतनामे के अनुसार टोडर के दिवंगत होने के पश्चात् उनकी सम्पत्ति का बँटवारा उनके उत्तराधिकारी बेटे और पोते के बीच हुआ था। पंचायतनामे की प्रथम छह पंक्तियां तुलसीदास की लिखी हुई हैं। उक्त पंचायतनामे के आधार पर यदि हम यह कहें तो अनुचित न होगा कि गोस्वामी जी से टोडर की मैत्री अवश्य थी उसी के नाते उन्होंने कर्तव्य समझ कर पंचायतनामा लिखा अन्यथा एक विरक्त महात्मा किसी के घरेलू झमेलों में क्यों पड़ता। गोस्वामी जीकी निधन-तिथि के दिन टोडर के वंशजों का सीधा देना भी सूचित करता है कि बाबा जी टोडर के कुल के बड़े हितैषी थे। टोडर की मृत्यु के उपलक्ष्य में तुलसीदास के जो चार दोहे प्रचलित हैं उन्हें एक प्रकार की प्रामाणिकता मिल जाती है। टोडर का का गृह अस्सी पर था, इससे तुलसीदास का अस्सी घाट पर रहना भी लक्षित होता है।

गोस्वामी जी की महत्वपूर्ण हस्त-लिपि है—'रामचरित मानस' के अयोध्या कांड की राजापुर वाली एक प्रति। इस प्राचीन प्रति में राम की प्रयाग–यात्रा के पश्चात् मार्ग में जो एक अद्भुत तपस्वी की कथा वर्त्तमान है

---

(१) दे० { "जरनल आव दी रायल एशियाटिक सोसायटी" १९०३ पृ० ५४०
'इन्साइक्लोपेडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग २ पृ० १४७०

(२) दे० रामचन्द्र काटे: 'सरस्वती' जिल्द १९, पृष्ठ ३७

उसे क्षेपक कह कर नहीं टाला जा सकता। वस्तुतः कवि ने यह कथा साभिप्राय लिखी है, इसके द्वारा उसने राजापुर को अपनी जन्म-भूमि होने का प्राकारान्तर से संकेत किया है। किसी संस्कृत रामायण में अलौकिक तापस की कथा नहीं मिलती। ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसीदास की प्रतिभा ने उनसे उनकी जन्म-भूमि में विचरण करते हुए स्वामी के सन्मुख आकर चरण-रज लेने के लिये उक्त कथा की उद्भावना कराई। गोस्वामी जी जैसे विराट कल्पना कुशल कवि को ऐसा प्रसंग उपस्थित करने में क्या देर थी, अविचल, अटल, अनन्य प्रेमवश उन्होंने अपने को इष्टदेव के चरणों में डाल ही तो दिया—

"सजल नयन तनु पुलक निज इष्टदेव पहिचान।
परेउ दण्ड जिमि धरनि तल, दसा न जाइ बखानि॥"

तापस अपना परम प्रेम अपने इष्टदेव के चरणों में अर्पित करने के लिए एकाएक आता है। कब जाता है, किधर जाता है, इसका कोई उल्लेख नहीं। इससे यही आभास मिलता है कि तुलसीदास ने ही अपने को तापस रूपमें अपने इष्टदेव के सामने पहुँचाया है, ठीक अपनी जन्म-भूमि के प्रदेशमें।

इस प्रकार अपने इष्टदेव के समक्ष अपने को उपस्थित करना भी भक्तों की एक पद्धति माननी चाहिये। सूरदास को ही लीजिये। बल्लभाचार्य जी से दीक्षित होने के अनन्तर वे गोबर्द्धन पर श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन किया करते थे। उन्होंने भी अपने इष्टदेव के दर्शन के लिए अपने को ढाढ़ी के रूपमें नन्द के द्वार पर पहुंचाया है—

"नन्द जू! मेरे मन आनन्द भयो, हौं गोवर्द्धन तें आयो।
तुम्हरे पुत्र भयो मैं सुनिकै अति आतुर उठि धायो॥"

× × × ×

"जब तुम मदन मोहन करि टेरी, यह सुनिकै घर जाऊँ।
हौं तो तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाऊँ॥"

निकृष्ट कोटि के बाह्य साक्ष्य अर्थात् जन-श्रुतियों के आधार पर तुलसीदास के सम्बन्ध में प्रचलित विविध जन श्रुतियों का संग्रह उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं। ऐसे संग्रह का कार्य तो कुछ लोग कर ही चुके हैं। मैं जन-श्रुतियों को तीन श्रेणी में रख कर प्रत्येक श्रेणी की कुछ चुनी हुई जन-श्रुतियाँ जिनकी अवहेलना करना ठीक नहीं उन्हीं का संकेत करना उचित समझता हूँ।

प्रथम श्रेणी की जन-श्रुतियाँ जो कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों को लपेटे चलती हैं, उनमें से दो-एक को लीजिए। तुलसीदास और रहीम खानखाना के बीच दोहा पूर्ति करने का प्रसंग बहुत प्रचलित है। इसमें कोई ऐसी बात नहीं जो अस्वाभाविक लगती हो। गोस्वामी जी दयालु तो थे ही, गरीब ब्राह्मण के लिए उन्हों ने स्वयं दोहे की एक पंक्ति बना कर कविता-प्रेमी रहीम से कुछ दिलाना ही चाहा हो तो कोई असंभव बात नहीं। यदि कविता मर्मज्ञ रहीम ने दोहे के पूर्वार्द्ध चरण पर मुग्ध होकर उत्तरार्द्ध की पूर्ति कर दी हो तो उसमें भी आश्चर्य क्या।

गुणग्राही अकबर ने अपने अर्थ-सचिव टोडरमल की सिफारिश के आधार पर तुलसीदास को मनसब देने की स्वीकृति दे दी हो और गोस्वामी जी ने उसका तिरस्कार किया हो, यह भी अस्वाभाविक नहीं लगता। अतः—

"हम चाकर रघुनाथ के पटो लिखौ दरबार।
तुलसी अब का होहिं गे नर के मनसबदार॥"

की प्रचलित जन-श्रुति भी उपेक्षणीय नहीं।

दूसरी श्रेणी में कुछ ऐसी जन-श्रुतियाँ रखी जाती हैं जो कवि से संबद्ध कुछ विशेष स्थानीय, पारिवारिक या समकालीन व्यक्ति विषयक हैं। काशी के चार विशेष स्थानों अर्थात् प्रह्लादघाट, अस्सी, गोपाल मंदिर और संकट-मोचन पर तुलसीदास रह चुके थे। इन चारों स्थानों में उनके रहने के स्मारक भी बताए जाते हैं। गोस्वामी जी बहुत समय तक काशी में रहे यह तो अंतःसाक्ष्यों से ही सिद्ध है। किन विशेष स्थानों पर रहे इसके लिए उक्त चारों स्थानों पर रहने की जन-श्रुति ग्रहण कर लेने में कोई अनौचित्य नहीं।

जन श्रुति के अनुसार गोस्वामी जी के पिता का नाम आत्माराम दूबे माना गया है। तुलसीदास के सभी जीवन-चरित लेखकों ने इसी नाम को स्वीकृत किया है। अतः इसे मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

तुलसीदास के गृह-त्याग का कारण उनकी भार्या का मर्म-स्पर्शी वचन था[१]। यह भी जन-श्रुति की देन है। परन्तु है ग्राह्य। इसे सभी जीवनी लेखकों ने माना है।

काशी के प्रकांड विद्वान् और प्रवर भक्त मधुसूदन 'सरस्वती' गोस्वामी जी

---

(१) "अस्थि चर्ममय देह मम, तामैं जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भव भीति॥"

के समकालीन थे। इन दोनों में भक्ति-विषयक कुछ विचार-विनियम हुआ था। महात्मा मधुसूदन जी ने किसी के पूछने पर गोस्वामी जी की प्रशंसा में यह श्लोक पढ़ा था—

"आनन्द कानने ह्यस्मिन तुलसी जंगमस्तरुः।
कविता मञ्जरी यस्य राम भ्रमर भूषिता॥"

यह श्लोक दोनों महात्माओं की घनिष्ठता का भी परिचायक है।

जैन कवि बनारसीदास और तुलसीदास का सत्संग हुआ था। इस सम्बन्ध में प्रचलित जन-श्रुति भी ग्राह्य है, क्योंकि गोस्वामी तुलसीदास और बनारसीदास समकालीन थे[१]।

नाभादास और सूरदास के साथ गोस्वामी जी का समागम हुआ था, इस सम्बन्ध में प्रचलित जन-श्रुति भी कुछ न कुछ प्रयोजनीय है। भक्तों का समागम होता ही रहता है, बहुत सम्भव है उक्त महात्माओं का समागम हुआ हो क्योंकि वे एक ही काल में वर्तमान थे।

मीराबाई ने गोस्वामी जी के साथ पत्र व्यवहार किया था, यह जन-श्रुति नितान्त निर्मूल ठहरती है। यद्यपि मीरा सं० १६०३[२] तक विद्यमान थी, पर तुलसीदास की अवस्था उस समय चौदह वर्ष की थी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस अल्पावस्था में वे इतने लोकप्रिय हो गये थे कि मीरा उनसे अपने जीवन-मार्ग का निर्णय कराती। मीरा के पत्र भेजने की स्थिति उसके स्वर्ग-प्रयाण के बहुत पहले रही होगी, उस दशा में तुलसीदास या तो बिल्कुल अनजान बालक रहे हों अथवा उनका जन्म ही न हुआ रहा हो।

तीसरी श्रेणी की निम्नतम जन-श्रुतियाँ, जैसे, मुर्दा जिलाना, प्रेत-मिलन तथा ऐसे ही अन्यान्य चमत्कारों को अग्राह्य समझ कर यों ही छोड़ा जाता है पर उनके विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी का व्यक्तित्व सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक उन्नत था—श्रद्धावश लोगों ने महत्त्व-प्रदर्शन के लिए नाना प्रकार के चमत्कारों को उनके साथ जोड़ दिया है।

गोस्वामी जी की जन्म-भूमि तथा उनके ब्राह्मण भेद आदि को लेकर समय समय पर जो भ्रामक विचार फैले उनका निर्देश करते हुए विशेष छानबीन करके डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने ग्रंथ 'तुलसीदास' में जो विचार प्रकट किए हैं वे माननीय हैं। अतः इस सम्बन्ध में मैं विस्तार नहीं करना चाहता।

---

(१) दे० 'मिश्रबंधु विनोद' प्रथम भाग पृ० ३६४
(२) ओझा 'उदयपुर का इतिहास' पृ० ३६०

साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक जीवनी की स्थापना

आज के समीक्षकों की दृष्टि किसी कवि की भौतिक जीवनी के पीछे आवश्यकता से अधिक हैरान रहती है। यद्यपि इस प्रकार का प्रयास उपेक्षणीय नहीं तथापि इसे इतना महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः कोई कवि अपनी भौतिक जीवनी के कारण अमरत्व नहीं पाता प्रत्युत वह अपनी उदात्त साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवनी के बल पर शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित हो सकता है। कवि की भौतिक जीवनी उसकी कृतियों को समझने में गौण साधन होती है, इसके विपरीत उसकी साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक जीवनी उसकी कृतियों के रहस्योद्घाटन का प्रमुख अंग है। कवि अपने रमणीय काव्योद्यान का आरोपण कर उसे संसार को समर्पित कर स्वयं यह धराधाम छोड़ कर चला जाता है, उस समय हमारी दृष्टि उसकी साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक जीवनी में ही रमती है; हमें उसकी भौतिक जीवनी के परिज्ञान का संकल्प भी नहीं होता। कवि की कृतियों में ओत-प्रोत उसकी जीवनी ही चिरंतन होती है। इसके विश्लेषण मात्र से हम कवि के व्यक्तित्व, उसके आदर्श किंबहुना उसके पूर्ण चरित का साक्षात्कार करते हैं। महान् साधु कवि अपनी भौतिक जीवनी का परिचय देना हेय समझ कर भले ही उसे गुप्त रखते हैं, पर साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक जीवनी तो छिपाने की इच्छा रखने पर भी नहीं छिपती। कवि की कृति उसके हृदय का प्रतिबिंब है। इसमें उसकी स्वभावगत, विशेषताएँ, उसके चारित्र्य के नमूने आदि भी प्रच्छन्न रूप से समाविष्ट रहते हैं। उन्हें ढूढ़ना विवेक का कार्य है।

आगे तुलसीदास की साहित्यिक जीवनी का संक्षिप्त चित्रण उपस्थित करने का प्रयास किया जाता है। साहित्य-निर्माण में कवि का जो जीवनांश समर्पित होता है उसे हम उसकी साहित्यिक जीवनी कह सकते हैं। हमारे कवि की काव्य-प्रतिभा की ज्योति प्रस्फुटित कराने वाला वातावरण बड़ा ही मनोरम और मनोनुकूल था। बाल्यकाल में ही सौभाग्यवश उसने इस इष्ट वातावरण को पा लिया था। यद्यपि अंधे संसार ने उसे बाल्यकाल में अनाथ होने पर भीख माँगने का ही रास्ता दिखाया था, पर उसके भाग्य ने उसे ऐसे गुरु का द्वार दिखाया जहाँ उसकी काव्य प्रतिभा के बीज को उगने और विकसित होने का यथेष्ट सुअवसर मिला। गुरु ने अपने अमित वात्सल्य के प्रभाव से बालक के हृदय को विशाल कोमलता का थाला बना दिया। यह

बड़ी ही स्वाभाविक बात है कि जिस बालक को नित्य ही पेट भरने के लिए झिझकार और फटकार सुननी पड़ती हो उसे यदि कोई जरा-सा भी प्रेम दिखाते हुए टुकड़े दे तो वह दाता के प्रति नैसर्गिक कृतज्ञता से गद्‌गद् हो उठेगा। भले ही बार-बार ठुकराए जाने से उसकी कोमलता की भावना दबी पड़ी हो, किन्तु उस दयालु सहृदय दाता के प्रति वह उसी क्षण अवश्य कोमल कल्पना करेगा। ऐसी ही बात बालक तुलसीदास के साथ हुई। गुरु का सान्निध्य और वात्सल्य प्राप्त कर इनके बाल्यकाल के माता-पिता के प्रति अचरितार्थ अतएव सुप्त प्रेमभाव सजग हो उठे और बालक ने गुरु को ही अपना अनन्य आश्रय पाया। दूरदर्शी गुरु ने बालक की लगन और उसमें प्रतिभा का अंकुर देख कर उसका संस्कार ही कुछ ऐसे ढंग से किया कि वह आगे चल कर अपनी प्रतिभा की पराकाष्ठा का प्रदर्शन कर सका। इस कार्य के लिए शास्त्रों में पारंगत करना आवश्यक था। अतः गुरु ने शिक्षा तो दी ही साथ ही भगवान् के विशेष स्वरूप राम की कथा का प्रबल संस्कार भी बाल्यकाल में ही इनके हृदय-पटल पर अंकित कर दिया। इस प्रकार तुलसीदास की साहित्यिक जीवनी का प्रादुर्भाव गुरु के पास से ही रामकथा को लेकर होता है और अन्ततः यही रामकथा उनकी साहित्यिक कृति बनी रहती है। इसी रामकथा के प्रति अनन्य प्रेम तथा उसकी अनूठी अभिव्यंजना शैली जो उनकी साहित्यिक जीवनी की आधारशिला है, उसे कौन भुला सकता है? प्रसिद्ध अंग्रेज समीक्षक वाल्टर रैले ने अपने ग्रथ 'मिल्टन' में महाकवि मिल्टन के सम्बन्ध में कहा है—"मिल्टन अपने गद्य तथा पद्य दोनों में अपने जीवन भर वही बाल्यकाल का एक ग्रामीण चरवाहा (un couth swain) बना रहा[१]।" ठीक इसी प्रकार गोस्वामी जी की साहित्यिक जीवनी के आधार पर कहा जा सकता है कि वे भी आजन्म एकमात्र वही राम-गुण-गायक बने रहे जो बाल्यकाल में थे। इस राम-गुण-गान को सर्वोत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त करने के लिए तुलसीदास को प्राचीन संस्कृत साहित्य का गंभीर अध्ययन करना पड़ा जैसा कि 'मानस' से स्वयं सिद्ध है। तुलसीदास की साहित्यिक जीवनी उनके मेधावी होने के साथ उनके अगाध पाँडित्य का भी संकेत करती है। वह यह भी स्पष्टतया लक्षित करती है कि उनकी प्रतिभा का विकास रामकथा के घेरे में ही उत्तरोत्तर होता रहा। 'रामलला नहछू', 'रामाज्ञा-प्रश्न', 'वैराग्य-संदीपिनी' आदि रचनाएँ उनकी प्रतिभा के प्रभात काल की सूचना देती हैं। इसके अनन्तर यही प्रभात 'मानस' के रचनाकाल तक पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर

ज्योतिमान् हो उठा है। प्रतिभा-विकास के साथ ही उनके व्यावहारिक अनुभव का विकास भी उनकी साहित्यिक जीवनी से प्रतिपादित होता है। उनके जीवन का वह व्यावहारिक ज्ञान, उनका वह कला-प्रदर्शन का पाँडित्य जो 'मानस', 'गीतावली', 'कवितावली', 'दोहावली', 'विनय-पत्रिका' आदि में अवगत होता है वह अविकसित काल की रचनाओं में नहीं है। उनकी साहित्यिक जीवनी से यह भी प्रकट होता है कि यह महात्मा अपने काल के प्रभाव से स्वयं विमूढ़ नहीं हुआ किन्तु उसने अपनी सामयिक विषमताओं के उच्छेद का साधन भी मधुर रामकथा को ही समझा।

रामकथा के भीतर हम तुलसीदास की जिन चारित्रिक विशेषताओं का दर्शन करते हैं वे भी विचारणीय हैं। यद्यपि महाकवि अपनी व्यापक अनुभूति और प्रतिभा के सहारे सद्, असद्, दिव्य, अदिव्य, लौकिक, अलौकिक सभी प्रकार की बातें दिखाता है पर इन सबके आधार पर उसकी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषता का उद्घाटन करना टेढ़ी खीर है। ऐसा होते हुए भी इतना तो निर्विवाद है कि कलाकार जिन पात्रों के चित्रण में सर्वोच्च समानुभूति प्रकट करता है उनके चरित्र में उसका (कलाकार का) व्यक्तित्व भी प्रतिबिंबित हो उठता है। इस दृष्टि को लेकर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि तुलसीदास की अनन्य समानुभूति राम के प्रति है। अतः उनकी चारित्रिक विशेषताएँ राम की विशेषताओं के प्रकाश में अधिकांश में देखी जा सकती हैं। यही नहीं, राम के भक्तों के चरित्र के साथ भी तुलसीदास के व्यक्तित्व का तादात्म्य है। कहीं-कहीं कवि के स्वतंत्र विचारों से भी उसकी कोई न कोई चारित्रिक विशेषता झलकती है।

गोस्वामी जी के चरित्र की सर्वप्रधान विशेषता है उनकी रामोपसना। इससे बढ़ कर वे किसी अन्य देव की उपासना नहीं मानते। उन्हें सर्वकाल में अपनी रामोपासना पर गर्व रहा देखिए—

"राम रावरो कहावौं गुन गावौं राम रावरोई,
रोटी द्वै हौं पावौं राम रावरी ही कानि हौं।
जानत जहान, मन मेरे हूँ गुमान बड़ो,
मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं[१] ॥"

'मानत' में भक्ति शिरोमणि शंकर, शेष, नारद, शारद, ऋषि, मुनि, देव, ऊँच, नीच सभी ने एक स्वर में रामोपासना को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हुए रामके

---

(१) 'विनय०' पद ६३।

चरणों का अनुराग ही चाहा है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी की व्यक्तिगत रामोपासना की प्रवृत्ति का ही रङ्ग सब पर चढ़ा है। वे सारे संसार को रामोपासना का आश्रय ग्रहण कराना चाहते हैं। 'मानस' और 'विनयपत्रिका' उनकी इस कामना को प्रत्येक पद के द्वारा प्रकट करते हैं।

लोक-वेद की मर्यादा के प्रति अनन्य आस्था और विश्व-कल्याण की कामना तुलसीदास के चरित्र की अन्य विशेषताएँ हैं। जब उनके उपास्य ही इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये अवतीर्ण होते हैं तो इनका व्यक्तिगत चरित्र इन गुणों से क्यों न भूषित होता। रामका प्रण है—

"धरम के सेतु जग-मङ्गल के हेतु भूमि-
भार हरिबो को अवतार लियो नर को।
नीति औ प्रतीति-प्रीति-पाल चालि प्रभु मान,
लोक-वेद राखिबे को पन रघुबर को[1]॥

× × ×

"बंदउ कौसिल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची।
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व-सुखद खल-कमल-तुसारू[2]॥"

ऐसे 'रघुवर' के अनन्य सेवक के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह लोक-मङ्गल कर्त्ता होते हुए वेद, पुराण, शास्त्रादि की मर्यादा का रक्षक बने साथ ही अपने नीति-नैपुण्य की, प्रेम और विश्वास की स्पृहणीय ज्योति भी फैलाए। तुलसीदास के चरित्र में ये गुण वर्तमान थे। इसी से उनकी कृतियाँ इन विशिष्ट गुणों से अनुप्राणित हैं।

सहिष्णुता और तितिक्षा गोस्वामी जी की अन्य स्वभावगत विशेषताएँ हैं। काशी के संघर्षों की चर्चा पहले हो चुकी है। यह उनको सहिष्णुता ही थी कि उक्त संघर्ष उन्हें उनके पथ से रंच मात्र भी विचलित न कर सके। अपने विषय में नाना प्रकार के प्रवाद सुन कर भी इस सहिष्णु महात्मा का चित्त क्षुब्ध न हुआ—

"चहत न काहू सों, न कहत काहू की कछु,
सब की सहत उर अन्तर न ऊब है[3]॥"

इनमें जहाँ एक ओर सहिष्णुता थी वहीं दूसरी ओर उनका आत्मसम्मान

---

(१) 'कविता' उ० छ० १२२
(२) 'मानस' बा० १५.४,५
(३) 'कविता' उ० छ० १०८

५

भी उच्च कोटि का था। संसारमें जन्म-ग्रहण करने के नाते वे आत्मसम्मान की उदात्त प्रवृत्ति को सजग रखने वाले थे। तभी तो उन्होंने यों भी कहा है—

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ'[१] ॥

अवतरण में 'काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब, चिढ़ नहीं प्रत्युत आत्म-सम्मान की व्यञ्जना कर रहा है। इसी प्रकार की व्यञ्जना निम्नांकित छन्द से भी हो रही है—

"मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति
मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
× × × ×
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
'साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को'।
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच सोच कहा,
का काहूँ द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को[२] ॥"

'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना से भी गोस्वामी जी का हृदय परिपूर्ण था। यद्यपि ये सारे संसार को बन्धुत्व की दृष्टि से देखने वाले थे फिर भी अपने देश भारतवर्ष की महिमा और गरिमा पर उन्हें गर्व था*। तुलसीदास को भारतीयता पर मुग्ध होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत ठीक कहा है—"आज जो हम बहुत से 'भारतीय हृदयों को' चीर कर देखते हैं, तो वे अभारतीय निकलते हैं। पर एक इसी कवि केसरी को भारतीय सभ्यता, भारतीय रीति-नीति की रक्षा के लिए सब के हृदय द्वार पर अड़ा देख हम निराश होने से बच जाते हैं‡।"

निर्भीकता और स्पष्टवादिता भी तुलसीदास की प्रकृति की सहज विशेषताएँ थीं। महान् से महान् व्यक्ति भी उन्हें भयभीत नहीं कर सकता था। राम की शरण में जाकर वे पूर्णतया अभयदान पा चुके थे। उनका ध्रुव विश्वास था कि राम जिसकी रक्षा स्वयं करते हैं उसे कोई नहीं मार सकता। सामान्य मनुष्यों की कौन कहे, वे काल से भी न डरने की प्रतिज्ञा करते हैं।

---

(१) वही „ „ १०६
(२) 'कविता' उ० छ० १०७
* देखिए 'कविता' उ० ३३ वां छन्द 'विनय०' पद १३५ [१]
‡ 'तुलसी ग्रन्थावली' तृतीय भाग प्रस्तावना पृ०११६

"तुलसी यह जानि हिये अपने सपने नहिं कालहु ते डरिहै।
कुमया कछु हानि न औरनकी जो पै जानकीनाथ मया करिहै[१] ॥"

× + ×

"कौनकी त्रास करै तुलसी, जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे[२] ॥"

गोस्वामी जी बड़े-बड़े समृद्धशालियों की कृपा-कटाक्ष अथवा उनके मुँह मोड़ने की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। देखिए—

"कृपा जिनकी कछु काज नहीं, न अकाज कछू जिनके मुँह मोरे।
करैं तिनकी परवाहि ते जो विन पूछ विखान फिरै दिन दौरे।
'तुलसी' जेहि के रघुनाथ से नाथ समर्थ सुसेवत रीझत थोरे।
कहा भव पीरपरी तेहि धौं, विचरै धरनी तिनसों तिन तोरे[३] ॥"

रावण सदृश मंडलीक मणि की राज सभा में जहाँ बड़े-बड़े देवगण भी हाथ जोड़े मुँह ताका करते थे वहीं अंगद के वाद-विवाद द्वारा रावण का जो अपमान कराया गया है, उससे भी तुलसीदास की निर्भीक और स्पष्टवादी प्रकृति का आभास मिलता है। उनकी स्पष्टवादिता का एक ज्वलंत उदाहरण यह भी है—

"तुलसी जु पै गुमान को, होतो कछू उपाउ।
तौ कि जानकिहि जानि जिय, परिहरतेउ रघुराउ[४] ॥"

समस्त सद्गुणों के आकर अपने इष्ट देव में भी जरा-सी कमजोरी देख कर उसे कह डालना स्पष्टवादिता नहीं तो क्या है।।

विभीषण और सुग्रीव राम के पक्के भक्त हैं। इस नाते तुलसीदास उन दोनों में बड़ी आस्था रखते हैं। भक्तों की श्रेणी में दोनों की महिमा बार-बार दुहराते हैं, पर उन दोनों का विशेष कृत्य इनकी दृष्टि में घृणास्पद था, इसका संकेत भी इन्होंने अपनी स्पष्टवादिता के कारण दे दिया है। देखिए—

"महाबली बालि दलि कायर सुकंठ कपि
सखा किये महाराज हौं न काहू काम को।
भ्रातघात पातकी निसाचर सरन आये
किये नाथ अंगीकार ऐसे बड़े बाम को[५] ॥"

---

(१) वही उ० छं० ४७ (२) वही ,, ,, ४८
(३) 'कविता०' उ० छं० ४६
(४) 'दोहावली' दो० ४९३
(५) 'कविता०' उ० छं० १४

कहना नहीं होगा कि अवतरण में रेखांकित पदों का प्रयोग कवि की स्पष्ट-वादिता के ही कारण हुआ है। अपनी इसी प्रवृत्तिवश उसने राम में एक आक्षेप योग्य स्थान भी देख लिया था—

"बंधु बधू रत कहि कियो, बचन निरुत्तर बालि।
तुलसी प्रभु सुग्रीव की चितइ न कछू कुचालि[१]।।"

उपर्युक्त दोहा यद्यपि प्रभु की प्रशंसा में ही कहा गया है, पर उससे ऐसा भी प्रतिभासित होता है कि तुलसीदास ने आत्मीयता और पक्षपात के फेर में पड़ गये राम के चरित में आक्षेप-योग्य स्थान देख लिया था।

गोस्वामी जी बड़े उदार और गुणग्राही थे। सद्गुण चाहे शत्रु में ही क्यों न हो उसके लिये यथेष्ट सम्मान तथा शिष्ट जनोचित उदारता उनके हृदय में वर्तमान थी उन्होंने प्रबल शत्रु, असुर रावण में भी जो महत्ता देखी उसकी प्रशंसा करने में वे तनिक भी न हिचके—

"बीस बाहु दस सीस दलि, खँड खँड तनु कीन्ह।
सुभट सिरोमनि लंकपति, पाछे पाँव न दीन्ह[२]॥"

रण में पीछे पैर नहीं रखना ही वीर शिरोमणि का मुख्य धर्म है; उसकी महान् कीर्ति है। रावण ने अंततः पीठ नहीं दिखाई। यही कारण है कि जो तुलसीदास उसकी निशाचरी वृत्तियों के लिए उसे घोर विगर्हणा का पात्र समझते थे वही एक गुण के नाते उसकी प्रशंसा भी करते हैं।

तुलसीदास की अन्य उत्कृष्ट विशेषता है—उनकी प्रशांत प्रकृति तथा हृदय की प्रगाढ़ कोमलता। 'विनयपत्रिका' में एक से एक बढ़कर ऐसे पद हैं जो इन विशेताओं को परिलक्षित करते हैं। 'मानस' में प्रायः सभी भक्त पात्रों की प्रकृति मानो इन्हीं दोनों विशेषताओं में ढली है। इसे गोस्वामी जी के व्यक्तित्व का प्रसाद ही समझना चाहिए।

संसार से तटस्थ रहने वाले बड़े-बड़े साधु महात्माओं में से अधिकांश गम्भीर और उदासीन प्रकृति के ही दिखाई पड़ते हैं गोस्वामी जी संसार से निर्लिप्त रहकर पूर्ण गंभीर तथा उदासीन होते हुए भी अपने सरल हृदय के कारण हास-परिहास का भी मूल्य समझते थे। उनकी विनोदशील प्रकृति उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं अपना नाज दिखाती हुई नजर आती है। उनकी हास्य प्रिय मनोवृत्ति के व्यञ्जक छन्द ऐसे हैं कि वे पाठक के हृदय में मधुर

---

(१) 'दोहावली' दो० १५७
(२) 'रामाज्ञा-प्रश्न' पंचम सर्गः दो० ४७

एवं सुखद गुदगुदी पैदा करने की क्षमता रखते हैं। ऐसी गुदगुदी से पाठक का हृदय मुस्करा उठता है, स्मितहास्य उसके अधरों पर चमक कर अंतर्भूत हो जाता है। अशिष्ट अट्टहास करने का अवसर नहीं आता। कवि अपने उपास्य की श्यामता की कैसी चुटकी ले रहा है, यह देखिए—

"गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय की छाँह[1]।।"

शंकर के गरल-पान की आदत पर कैसा छींटा दिया गया है—

कैसे कहै 'तुलसी' वृषासुर के बरदानि।
बलि जानि सुधा तजि पियन जहर की[2]।।"

ऋषि-मुनियों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हुए भी उनके साथ मधुर परिहास करने में भी तुलसीदास जी नहीं हिचके—

"बिंध के वासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृंद सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे[3]।।"

'मानस' में यत्र-तत्र कुछ देवों की कुतूहल पूर्ण सूरत को व्यंग का लक्ष्य करके भी तुलसीदास ने अपनी विनोदशील प्रकृति का परिचय दिया है[4]। अहल्या जब अपने उद्धार के पश्चात् पति के साथ जाने लगती है तो विनोदी तुलसीदास उसे गौने की दुलहिन बना देते हैं—

"गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाई कै[5]।"

'गोस्वामी' उपाधि का मर्म

यथा संभव तुलसीदास की निर्विवाद जीवनी प्रस्तुत परिच्छेद की इस लघुसीमा में दर्शायी जा चुकी, पर इतनी चर्चा हो जाने पर भी तुलसीदास के साथ लगा हुआ "गोस्वामी" शब्द तो अभी अछूता ही रह गया। अतएव

---

(१) 'बरवै रामा०' बा० छन्द १७
(२) 'कविता०' उ० छ० १७०
(३) वही अयो० छ० २८
(४) दे० 'मानस' पृ० ४७ (शिवपार्वती का वर्णन); पृ० १४४ (शंकर ब्रह्मा, स्वामिकार्तिकेय इंद्रादि के कुछ विशेष अंगों की प्रशंसा आदि)
(५) 'कविता०' अयो० छ० ६

इसका भी मर्म समझ लेना चाहिए। यदि यह आलोचकों के द्वारा प्रयुक्त केवल सम्मान सूचक विशेषण ही होता तो विशेष छानबीन करने की आवश्यकता न पड़ती, क्यों कि उस दशा में यह 'इन्द्रियों को वश में करने वाला' महात्मा का ही व्यंजक होता। तुलसीदास बड़े संयमी इन्द्रिय निग्रही महात्मा तो थे ही फलतः यह विशेषण सर्वदा उनके योग्त ही ठहरता। परंतु बात कुछ और है। कवि की रचनाओं में भी इसका विशेष प्रयोग[1] देख कर इसे केवल सम्मानार्थक कह कर नहीं टाला जा सकता। शिवोपासक शैवों की एक जाति विशेष जिसके गिरी, पुरी आदि दस भेद होते हैं, 'गोसाईं' कही जाती है। इन्हीं भेदों के कारण ये 'दस नामी गोसाईं' कहे जाते हैं। हमें भ्रमवश 'गोसाईं' जाति से तुलसीदास का कोई संबंध स्वप्न में भी नहीं जोड़ना चाहिए। अन्तः साक्ष्य से यह प्रमाणित है कि तुलसीदास जी ब्राह्मण थे, अतः यह निर्विाद है कि उनके साथ लगे हुए 'गोस्वामी' या 'गोसाईं' शब्द गोसाईं जाति के बोधक कदापि नहीं हैं। 'गोस्वामी' कुछ सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित होने के फलस्वरूप प्राप्त उपाधि भी है। यथा, वल्लभाचारी कृष्णोपासकों की गद्दी आबाद करने वाले आए दिन भी 'गोस्वामी' पद से भूषित रहते हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र में माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी दीक्षा लेने पर 'गोस्वावी' बन जाते हैं। यह 'गोस्वावी' 'गोस्वामी' या 'गोसाईं' से भिन्न नहीं। बहुत सम्भव है कि किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रसाद से 'गोस्वामी' की उपाधि तुलसीदास को भी मिली हो। ऐसे अनुमान के लिए देखना चाहिए कि तुलसीदास ने कृष्णोपासना के हेतु उनका कौन-सा स्वरूप ग्रहण किया है। यदि गोस्वामी जी चाहते तो वे बड़े बड़े भूपालों के बीच लोक-व्यवस्था की रक्षा करने वाले महाभारत के कृष्ण का चरित्र भी ऐसे सर्वांगीण रूप में चित्रित करते कि उसके द्वार उनकी लोक-संग्रह की चरमाभिव्यक्ति और जीवन के व्यापक से व्यापक क्षेत्र की प्रतिष्ठा हो जाती। परंतु, उन्हों ने ऐसा नहीं किया। 'कृष्णगीतावली' उन्हों ने लिखी अवश्य, पर उसमें कृष्ण का वही स्वरूप दर्शाया जो पुष्टिमार्गियों की उपासना के अन्तर्गत आता है। 'भागवत में 'पुष्टि' या 'पोषण' का अर्थ 'भगवान् का अनुग्रह' है

१ दे० 'कविता०' उ० छ०४० "तुलसी 'गोसाईं' भयो भोंड़े दिन भूल गयो............।"
वही ,, ,, ८० "आगे को 'गोसाईं' स्वामी सबल......।"
'विनय०' पद २६३ "मेरे भले को 'गोसाईं' पोच को न सोच............।"

('पोषणंतदनुग्रहः' भागवत २।१०)। 'पुष्टिमार्ग' में सर्वात्मना आत्म-समर्पण तथा विप्रयोग रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्द-धाम भगवान् के साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है। परम रूप-धाम भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की भक्ति पुष्टि भक्ति है। जिज्ञास्य है कि 'कृष्णगीतावली' के ऐसे साम्प्रदायिक ढंग से प्रणयन करने का अभिप्राय क्या हो सकता है। इस संबंध में ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि कदाचित् तुलसीदास कृष्ण के लीलाधाम गोकुल वृंदावन में भगवत्प्रेमामृत तरंगिणी के तट पर पहुँचे हों और वहीं वल्लभाचार्य की पुनीत कीर्ति फैलाने वाले गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से समागम हुआ हो। तत्परिणाम स्वरूप इनकी प्रतिष्ठा आदि के लिए विट्ठलनाथ जी ने इन्हें 'गोस्वामी' की उपाधि से भूषित किया हो। ये वहीं से पुष्टि भक्ति का संस्कार लिए आए हों और उसी के अनुसार 'कृष्ण गीतावली' की रचना की हो। कुछ लोगों की धारणा है कि 'गोसाईं' मठाधीश की उपाधि थी; जो किसी मठ के महन्त को स्वयमेव मिलती थी। आज भी तुलसी-मठ का अस्तित्व लोलार्ककुंड अस्सी पर विद्यमान है। हो सकता है कि इस अर्थ में तुलसीदास के साथ 'गोसाईं' चल पड़ा हो। पर ऐसा मानने में भारी संदेह यह होता है कि क्या 'गोसाईं' मठाधीश की उपाधि थी? आज तो मठाधीश को 'महन्त' कहते हैं, 'गोस्वामी' नहीं। दूसरी बात यह भी है कि वैष्णव चतुष्टय-सम्प्रदायान्तर्गत केवल मठाधीश्वर होने के नाते कोई महानुभाव 'गोस्वामी' उपाधि से विभूषित नहीं हुए।

———

तुलसी की सन्त-भावना

सन्तों की व्यक्तिगत देवोपासना

पिछले प्रकरण में गोस्वामी जी के व्यक्तित्व का किञ्चित आभास देने के अनन्तर अब प्रस्तुत प्रसंग में उनकी सन्त–भावना का ऐसा विश्लेषण अपेक्षित है जो यथार्थतः उनके सन्त–हृदय का परिचायक हो। तुलसीदास जैसे भगवान् राम के चरित गान में निमग्न थे वैसे ही सन्तों के गुणानुवाद में भी। यही कारण है कि उनकी मानस-सदृश उत्कृष्ट कृति में भगवान् के चरितामृत के अनन्त प्रवाह के साथ सन्तों की विशद विरुदावली का सहज स्रोत भी स्यन्दमान् होता है। 'मानस' ही नहीं, 'विनयपत्रिका', 'दोहावली', 'कवितावली' आदि में भी वे सन्तों की कीर्ति नहीं भूले। सन्तों की गुण-गरिमागान के लिये साथ ही सन्तों की पहचान के लिये, एक स्वतन्त्र-ग्रन्थ 'वैराग्य सन्दीपिनी' का प्रणयन करने में भी वे नहीं चूके। अस्तु, 'वैराग्य-सन्दीपिनी' एवं अन्य इंगित ग्रंथों के आधार पर उनकी संत-भावना का स्वरूप निरूपणीय है। ऐसा करने के पूर्व एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। 'सन्त' शब्द का प्रयोग तुलसीदास ने रूढ़िगत अर्थ में नहीं किया है। उनके मतानुसार 'सन्त' शब्द उस संकीर्ण अर्थ का वाहन नहीं है जिसके अन्तर्गत सिर्फ निर्गुण पन्थ के अनुयायी साधक आते हैं। उन्होंने इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। यह सज्जन, सच्चरित्र साधु आदि का ही प्रकाशक है[1]। केवल साम्प्रदायिक निर्गुणियों का नहीं।

सन्त–स्वभाव की प्रमुख पहचान है उसकी सर्वांगीण सहज सरलता[2]। इसी सहज सरलता के कारण सभी प्राणियों पर प्रेम भाव रखना ही सन्तों का धर्म है[3]। ऐसे 'सरलचित' सन्तों का आविर्भाव विश्व के कल्याण

---

(१) दे० 'मानस' बा० १.४, ५, ७; २.१२; ३.; ४.३
वही अरण्य० ४४.६; ४५.८
वही उ० ३८

(२) 'वैराग्य०' दो० ८

(३) 'मानस' 'अरण्य०' ४५,२

के लिए ही होता है[१]। वे चंद्रमा और सूर्य की भाँति 'विश्व सुखद' होते हैं[२]। वे कटुभाषी नहीं होते[३]। उनकी अमृतमय कोमल वाणी कठोर से कठोर हृदय को मोम बनाने[४], अमाच्छादित सुप्त हृदय को जगाने[५] तथा परितप्त हृदय को शीतल करने में समर्थ होती है[६]। ऐसे ही सरल-प्रकृति सच्चे संत के हृदय की मार्मिक व्यंजना इन पंक्तियों में की गई है—

"संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता[७]॥"

कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हृदय की ऐसी विशाल कोमलता के फलस्वरूप ही मनुष्य दया, क्षमा, प्रेम, श्रद्धा, शील आदि गुणों का भण्डार बन जाता है। फिर संतों के विषय में कहना ही क्या। वे सदाचार के प्रतीक होते हैं और होते हैं 'गुणागार', 'संसार-दुख-रहित' तथा 'विगत-संदेह' भी; परमात्मा के चरणों के अनन्य प्रेम में लीन भी रहते हैं[८]। वे आत्मश्लाघा के भूखे तो नहीं रहते पर पर-गुण-श्रवण से आह्लादित होते हैं[९], उन्हें समदर्शिनी बुद्धि प्राप्त रहती है[१०]; उनके आचरण भूल कर भी नीति-विपरीत नहीं होते[११]; जप, तप, नियम आदि कर्मों में आस्था रखना साथ ही विप्र, गुरु एवं परमात्मा के चरणों में प्रेम करना भी उनकी अन्य विशेषताएँ हैं[१२]; उनमें श्रद्धा, दया, क्षमा, मैत्री, विनय. विवेक, ज्ञान, वैराग्य और वेद-पुराण का यथार्थ बोध प्रभृति गुण वर्तमान रहते हैं[१३]; 'हेतु-रहित-परोपकार

---

(१) वही बा० ३.
(२) वही उ० १२०. २१
(३) वही उ० ३७.८
(४) 'वैराग्य०' दो० १६
(५) वही दो० २०
(६) वही ,, २१
(७) 'मानस' उ० १२४.७, ८
(८) वही 'अरण्य०' ४५.
(९) वही ,, ४५.१
(१०) वही ,, बा० ३०; अरण्य० ४५.२; उ० ३८. 'वैराग्य०' दो० १३, ३०, ३१
(११) 'मानस' अरण्य० ४५.२; लं० ३४.; उ० ३७.८
(१२) वही ,, ४५.३; उ० ३७.६, ८
(१३) वही ,, ४५.४, ५, ६

भी उनका बाना है[१]; गुण-ग्राहिता के तो मधुकर ही हैं[२]; विकार रूप बारि का परित्याग कर गुण रूप पय को ग्रहण करने वाले संत ही हंस भी कहे जाते हैं[३]।

संतों के इन उपादेय गुणों की चर्चा करने के उपरांत अब किञ्चित ऐसी क्रियायें भी विचारणीय हैं जो उनके लिए हेय ठहराई गई हैं। गोस्वामी जी ने संतों को बार-बार सावधान किया है कि वे षड् विकारों के लक्ष्य न हों, उन्हें (षड् विकारों को) अपने वश में करें[४]; सर्वथा अहंकार-शून्य हों[५]! वस्तुतः जो 'मैं' 'तैं' के अहंकार से मुक्त हो जाते है वे ही 'संत-राज' हैं[६]; परम शांति-सेवी संत जन अहंकार की अग्नि से दग्ध नहीं होते[७]; अपनी शांति के आधार पर ही वे समस्त संसार को दग्ध करने वाले अहंकार की ज्वाला से बचे रहते हैं[८]; वे जैसे अहंकार का शमन करते हैं वैसे ही राग-द्वेष का भी[९]; वे 'अभूतरिपु', 'विमद', 'विरागी', 'लोभामर्ष-हर्ष-भय त्यागी' होते हैं[१०]; वे न तो पर-द्रोह का चिंतन करते[११] और न खल जनों की कटु वाणी से क्षुब्ध होते[१२]।

तुलसीदास ने, यों तो संतों के माहात्म्य की प्रतिष्ठा के लिए उनका गुणानुवाद करने में श्रुति और शारद को भी असमर्थ बताया है[१३], और उनके लक्षणों को अगणित घोषित किया है[१४], पर सूत्र रूप में अपनी संत-भावना प्रकट करने के हेतु उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में निम्नांकित एक ऐसा पद भी दिया है जो संत बनने की स्पृहा रखने वालों के लिए सर्वथा मननीय है—

'कबहुँक हौं एहि रहनि रहौं गो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत सुभाउ गहौं गो॥
जथालाभु संतोष सदा काहू सों कछु न चहौं गो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेमु निबहौं गो॥

---

(१) वही अरण्य० ४५.७; उ० १२०. १४-१६ 'वैराग्य०' दो० १० 'दोहावली' ,, ३७४
(२) 'मानस' बा० ६. ६
(३) वही ,, ६. 'दोहावली' दो० २६६
(४) 'मानस' अरण्य० ४४.६
(५) वही ,, ४४.८
(६) 'वैराग्य०' दो० ३३
(७) वही दो० ५२
(८) वही ,, ५३
(९) वही दो० ५८-६०
(१०) 'मानस' उ० ३७.२
(११) वही ,, १५.१
(१२) वही किष्कि० १३.४
(१३) वही 'अरण्य०' ४५.८
(१४) वही उ० ३६.६

परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनी तेहि पावक न दहौं गो।
बिगतमान, सम सीतल मन, पर-गुन, नहीं दोष कहौं गो।।
परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख सम बुद्धि सहौं गो।
तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि अबिरल हरि भगति लहौं गो।।'

संत-स्वरूप की झाँकी करने के अनन्तर उनकी व्यक्तिगत देवोपासना भी विचारणीय है। किसी संत की उपासना दो रूप धारण कर सकती है—ऐकान्तिक अथवा समाजिक। ऐकान्तिक उपासना में लीन संतजन इस प्रपञ्चात्मक जगत् से तटस्थ होकर किसी निर्जन अरण्य में, अथवा किसी पर्वत की कन्दरा में आसन मार कर विविध साधनों के द्वारा आत्मचिंतन करते हैं। उनका संसार उन्हीं के भीतर रहता है और उसी में वे ध्यान, धारणा, समाधि आदि साधते हैं। बाह्य जगत् का पतनोत्थान किस प्रकार हो रहा है इससे उनका कोई सरोकार नहीं। यदि सरोकार भी हो तो उन्हें अपने भीतरी 'गिरधर गोपाल प्यारे' अथवा 'आत्माराम' की उपासना से फुरसत कहाँ? ऐसे ऐकान्तिक साधक अपनी ऐकान्तिक साधना के बल पर मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं और होते हैं; वे अपने जीवन काल में ही ब्रह्मानंद-ह्रद में अबाध गति से अवगाहन कर सकते हैं और करते हैं; वे अपने उद्धारक और पूर्ण उद्धारक कहे जा सकते हैं परंतु वे संसार के भी उद्धारक हैं यह धड़ल्ले के साथ नहीं कहा जा सकता। ऐकान्तिक साधना की सरणि पर चलने वाले संतों का उपास्य कोई सगुण देव हो यह आवश्यक नहीं। साधक अपने निर्गुण, निराकार, शुद्ध ब्रह्मचिंतन में ही मस्त रहता रहता है अथवा अज्ञात के अन्तन सौन्दर्य पर फिदा होकर प्रेमोन्माद में ही अपनी ऐकान्तिक उपासना का आनन्द उठाता है।

यह तो हुई ऐकान्तिक उपासना की बात। अब दूसरे प्रकार की लोकोपकारिणी उपासना की ओर आइए। संकेत किया जा चुका है कि ऐकान्तिक साधना व्यक्तिगत साधक को परम पुरुषार्थ मोक्ष प्रदान करने वाली है। मोक्ष प्राप्त करने वाले धन्य हैं। परंतु वे साधक जो स्वयं तो मोक्ष के अधिकारी होते ही हैं साथ ही संसार को भी मुक्ति के पथ पर लाते हैं उनकी तुलना किससे की जाय? ऐसे ही साधकों में अन्यतम हैं हमारे सन्त तुलसीदास। इस विश्वकल्याणार्थी महात्मा को विश्वकल्याणकारिणी उपासना अभीष्ट थी। इसीलिए उन्हें संसार के समक्ष ऐसे देव की उपासना प्रतिष्ठित करनी पड़ी जिसकी ओर लोगों का झुकाव सहज और सरल रूपमें हो। जीवन में न जाने कितनी दयनीय घटनाएं घटित होती हैं; न जाने कितनी आपत्तियों के पहाड़ हमारे सामने ढहते हैं; न जाने कितनी शोक—वह्नि की ज्वालाएं हमें दग्ध करती

हैं; निराश्रयता का अकूपार हमारे चतुर्दिक् लहराने लगता है—ऐसी दशाओं में जो व्यक्ति हमारे साथ संवेदना प्रकट करता है हम जन्म-जन्मान्तर के लिये उस पर अपना प्राणोत्सर्ग कर देना चाहते हैं, उसके चरणों में अपनी अपार श्रद्धा और प्रेम समर्पण करने पर उतारू होकर उसका बेदाम का दास बन जाने के लिए कमर कसे रहते हैं। तुलसीदास ने संसार के सामने अपने ऐसे ही उपास्य देवको उपस्थित किया है जो विश्वमात्र के साथ भूरितम संवेदना रखता है, प्रत्येक का दुःख बँटाने वाला है, प्रत्येक को सुख पहुंचाने वाला है, संसार-यात्रा में प्रत्येक का सहायक है और क्षण-क्षण में प्रत्येक को आश्वस्त करने वाला है। इस देव का परिचय पाते ही कौन ऐसा हतभाग्य होगा जो उसके स्वागत के लिए हृदय-पाँवड़े न बिछा दे ? और जिसके हृदय को भगवान् के चरणों का स्पर्श मिला वह अनायास ही मुक्ति का अधिकारी हुआ। गोस्वामी जीने अपने इष्टदेव का जो लोकरञ्जक स्वरूप चित्रित किया है वह लोकग्राह्य होने के कारण लोकोद्धारक भी है। इष्टदेव के स्वरूप-निरूपण का विशेष विस्तार न करके यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि तुलसीदास सदृश समाजोद्धारक उपासक भगवान के गुणागार अवतारी स्वरूप में पूर्ण आस्था रखते हैं उसमें अपरिमेय शक्ति, शील और सौन्दर्य के दर्शन करते हैं*।

संतों का त्याग

पीछे संतों की अनेक विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए उनके गुणों को अगणित कह कर प्रसंग की इति की गई है। प्रस्तुत प्रसंग में संतों के त्याग पर कुछ विशेष प्रकाश डालने की अपेक्षा है क्योंकि गोस्वामी जी की रचनाओं में इसकी व्यापक प्रतिष्ठा है। पहले त्याग की परिधि को समझ लेना चाहिए। विश्व-सूत्रधार, हमें अपना जीवन-नाटक खेलने के लिए संसार के रंगमंच पर भेजता है। हम एक से एक बढ़ कर नवीन आसक्ति के पात्र बन कर आते हैं। गर्भ-ग्रंथि के छूटते ही हमें माता के पयोधर का पीयूष पान करना स्वयमेव आजाता है, क्रमशः होश सँभालने के साथ ही माता-पिता के प्रति हमारी आसक्ति बढ़ती जाती है, कालान्तर हमें अपना कुटुम्ब अति प्रिय लगने लगता है और हम उसी में निमग्न होने लगते हैं। हमारे वय-

* गोस्वामी जी के इष्टदेव का स्वरूप बहुत ही मार्मिकता और विस्तार के साथ मेरे 'तुलसीदास और उनका युग' ग्रंथ के 'तुलसी की उपासना पद्धति' शीर्षक परिच्छेद में दिखाया गया है।

विकास के साथ हमारी इन्द्रियाँ और भी द्रुत गति से बढ़ती चलती हैं और अपने अपने विषयों की ओर हमें अनायास ही खींचती हैं। हम दसों इन्द्रियों और ग्यारहवें उनके सम्राट् मन के वशवर्ती होकर ऊटपटाँग गैल में चक्कर काटते फिरते हैं। तात्पर्य यह कि मन और इन्द्रियाँ स्वभाव से ही हमें सांसारिक आसक्ति में डुबाए रहती हैं। इन्हीं के वशीभूत होकर हम रूप, रस, गंध आदि विषयों में नाचा करते हैं। इन दुराधर्ष इन्द्रियों को काबू में करना सच्चा त्याग है, वैराग्य है। महर्षि पतञ्जलि के मतानुसार वैराग्य का स्वरूप देखिए—

"दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्[१]।"

सूत्र से स्पष्ट है कि वैराग्य के लिए ऐहिक और आमुष्मिक दोनों प्रकार के विषयों से वितृष्णा होनी चाहिए। लौकिक अथवा पारलौकिक सुख की किञ्चित स्पृहा रहते त्याग कैसा? यह तो हुई सामान्य वैराग्य की बात। अब परम वैराग्य को लीजिए—

"तत्परंपुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्[२]॥"

त्रिगुणों से परे हो जाना ही परम विरागी की पहचान है। त्रिगुणातीत के लक्षण और आचरण आदि भी विचारणीय है। भगवद्गीता में कहा गया है—प्रकाश रूप सत्त्व गुण, प्रवृत्ति रूप रजोगुण और मोहरूप तमोगुण के प्राप्त होने पर जो उनसे द्वेष नहीं करता; उदासीन की तरह स्थित हुआ जो गुणों से विचलित नहीं होता; 'गुण ही गुणों में वर्तते हैं' यह समझ कर जो अविचल रूप से स्थिर रहता है, जो सुख दुख में सम है, अपने आप में मस्त है, मिट्टी, पत्थर, सोना, प्रिय, अप्रिय सब को समान जानता है, धैर्यवान् है, निंदा स्तुति, मानापमान, शत्रु-मित्र के विषय में समदर्शी है और सर्वथा आडम्बरों से दूर रहता है—वही त्रिगुणातीत कहलाता है[३]। वही अपनी अनन्योपासना के द्वारा परम पदाधिकारी होता है[४]।

---

(१) "पतञ्जलि योग" 'समाधिपाद' सूत्र ॥१५॥
(२) वही " ॥१६॥
(३) 'गीता' १४।२२-२५
(४) वही १४।२६-२७

उपर्युक्त ऐतिह्य विचारों को ध्यान में रखते हुए तुलसीदास के त्याग विषयक विचारों की मीमांसा के लिए आगे बढ़ना चाहिए। ऊपर कहा जा चुका है कि सांसारिक एवं स्वर्गिक दोनों विषयों का त्याग ही सच्चा वैराग्य

या त्याग है। गोस्वामी जी ने भी सच्चे त्याग का यही रूप माना है, फलतः उन्होंने कहा है—

"एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई[१] ॥"

वस्तुतः ऐहिकामुष्मिक दोनों हां विषय त्याज्य हैं। इसी से बाबा जी ने संतों को त्याग, विरति, वैराग्य आदि का प्रशस्त पथ पुनः पुनः दिखाया है। वैराग्य विरोधी संसार के इन तीन अजेय विषयों से सतर्क रहने की उनकी यह चेतावनी बड़ी महत्त्वपूर्ण है—

"सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी[२] ॥"

इन त्रिविध एषणाओं का अत्यन्ताभाव हुए बिना वैराग्य कैसा? और वैराग्योदय बिना सन्त बनने का दावा झूठा है। जो साधु, सन्त अथवा भक्त हैं वे भोगों को रोगों के समान त्याग देते हैं। देखिए—

"मैं जानी हरिपद रति नाहीं। सपनेहुँ नहिं बिराग मन माहीं॥
जे रघुबीर चरन अनुरागी। ते सब भोग रोग सम त्यागी॥
काम भुअंग डसत जब जाही। विषय निंब कटु लगै न ताही[३] ॥"

× × × ×

"रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़ भागी[४] ॥"

पूर्व आचार्यों की भाँति तुलसीदास ने भी त्रिगुणों के त्याग को ही परम वैराग्य ठहराया है—

"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी[५] ॥"

'गीता' के आधार पर त्रिगुणातीत की उल्लिखित विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए विचार करने से प्रकट होगा कि गोस्वामी जी ने भी उन्हीं विशेषताओं को संतों का लक्षण ठहराया है। इसी से संतों को जन्म-मरण, सुख दुख, हानि-लाभ, प्रिय-मिलन-वियोग आदि सभी स्थितियों में सम रहने का निर्देश किया है[६]। यह भी कहा है—

---

(१) 'मानस' उ० ४३.१
(२) वही ,, ७०.६
(३) 'विनय०' पद १२७
(४) 'मानस' अयो० ३२२.८
(५) वही अरण्य० १४.८
(६) देखिए 'मानस' अयो० १४८.५—७

"सम अभूत रिपु विमद बिरागी। लोभामर्ष हर्ष भय त्यागी[१]॥"

× × ×

"अखिल जीववत्सल निर्मत्सर चरन कमल अनुरागी।
ते तव प्रिय रघुबीर। धीर मति अतिशय निज पर त्यागी[२]॥"

ऐसे त्यागी संत कंचन और काँच को सम जानते हैं, कामिनी को काष्ठ और पाषाण समझते हैं[३]। निन्दास्तुति में अभेद बुद्धि रखते हैं[४]। मानापमान को भी एक दृष्टि से देखते हैं[५]। अस्तु।

विचारणीय है कि गोस्वामी जी ने त्याग का लक्ष्य क्या माना है। मन स्वभावतः विपथगामी होता; यह आत्मा के दिव्य स्वरूप का विस्मरण कर इन्द्रियों का दास होकर विषयों में ही सना रहता; जन्म-जन्मांतर के विषय-संस्कारों के कारण इसकी विषयासक्ति का वारापार नहीं रहता फलतः इसे शांति या विश्राम की छाया स्वप्न में भी नहीं छूती। विरति, विवेक, त्याग आदि के द्वारा ही इसे विश्राम या शांति मिल सकती है। अतएव, त्याग शांति-पद का अचूक साधन है। देखिए, निम्नांकित पद में मन की व्याकुलता और उसकी मलिनता का संकेत करते हुए उसे स्वच्छ और शांत करने का एकमात्र साधन भी बताया गया है—

"कबहूँ मन बिस्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन्ह तान्यो॥
जदपि विषय संग सह्यो दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममता बस, जानत हूँ नहिं जान्यो॥
जनम अनेक किए नाना विधि करम-कीच चित सान्यो।
होय न विमल विवेक नीर बिनु वेद पुरान बखान्यो॥
... ... सर खनतहिं जनम सिरान्यो[६]॥"

और भी स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं—"त्याग को भूषन सांति पद, तुलसी अमल अदाग[७]॥" यह 'सांतिपद' मन के विश्राम का ही द्योतक है। मन जिस समय विस्राम प्राप्त कर लेता है उस समय—

'सकल काम बासना बिलानी। तुलसी यहै सांति सहिदानी[८]॥"

(१) वही उ० ३७.२
(२) 'विनय०' पद ११८
(३) 'वैराग्य०' दो० २७, २८
(४) 'मानस' उ० ३८.
(५) वही उ० १३.
(६) 'विनय०' पद ८८
(७) 'वैराग्य०' दो० ४४
(८) वही „ ५१

मन को विश्राम देने का अद्वितीय साधन ही मानने के कारण तुलसीदास ने त्याग की अप्रतिम प्रतिष्ठा की और उसे संतों का परमोच्च लक्षण ठहराया—इसमें कोई संदेह नहीं।

त्याग के स्थूल अर्थ को ध्यान में रखकर ऐसी शंका भी की जा सकती है कि क्या कर्मों का न करना ही त्याग है? उत्तर है—नहीं। कर्म दो प्रकार के होते हैं—सत्कर्म तथा असत्कर्म। इनमें से दूसरे प्रकार के कर्म निंद्य होने के कारण त्याज्य हैं। त्याज्य कर्मों के उदाहरण देने की आवश्यकता ही क्या जब कि संसार में ऐसे कर्मों का बोलबाला है। हाँ, सत्कर्मों के विषय में कुछ विचार अवश्य कर लेना चाहिए। भगवद्गीता में कहा गया है—

"त्याज्यं दोष वदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्य मिति चा परे॥
× × ×
यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्या नीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्[१]॥"

अवतरण से स्पष्ट है कि सत्कर्मों का करना तो आवश्यक है पर उनमें आसक्ति और फल की कामना का अभाव होना चाहिए। अपने वर्ण-विहित कर्मों को निष्काम भाव से सम्पादित करते रहना ही कर्तव्य है। निष्काम कर्म करना ही त्याग है। ऐसे ही निष्काम कर्म को गोस्वामी जी के विचार से भी संतों का त्याग कहा जा सकता है। देखिए—

"त्यागहिं करम सुभासुभदायक। भजहिं मोहिं सुर-नर-मुनी नायक[२]॥"
"प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीति। निज निज करम निरत स्रुति नीती॥
यहि कर फलु मनु विषय विरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा[३]॥"

मन को विषय विमुख होने के लिए, त्याग की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि और पुष्टि के लिये 'प्रबोध चंद्रोदय' का यह महत्त्वपूर्ण निर्देश स्मरणीय है—

"भावानाम नित्यता भावनमेव तावन्ममतोच्छेदस्य प्रथमोऽभ्युपायन[४]।"

---

(१) 'गीता' १८।३. ५, ६
(२) 'मानस' उ० ४०.७
(३) 'मानस' अरण्य० १५.६,७
(४) 'प्रबोध चन्द्रोदय' पंचमो अंक श्लोक २६ के पश्चात्

इधर वैराग्य साधन के लिए वैराग्य का प्रथम सोपान जिसका तुलसीदास ने निर्देश किया है वह यह है—

"धर्म तें विरति, जोग तें ग्याना। ग्यान-मोच्छ प्रद वेद बखाना[1] ॥

हमें स्वधर्माचरण करते हुए, मन को विषयों से पराङ्मुख करने के लिए उसे नाना प्रकार से चेतावनी भी देते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते मन को 'जग जामिनी' में 'देह-गेह-नेह' सभी 'घन दामिनी' वत् प्रतीत होने लगेंगे[2]। भगवान् की विषम माया से आक्षिप्त जीव को चाहिए कि वह इस घोर, गंभीर, गहन संसार-कांतार की दुर्भेद्यता और भयंकरता के स्मरण मात्र से संत्रस्त होकर प्रवृत्ति रूप आपगा में पाप की उत्तुङ्ग तरंगों को पुनः पुनः आकाश चूमते देख भयभीत हो उठे, उसकी अपार दुस्तरता विचारे और अपने तन, मन, सुहृद, परिवार प्रतिष्ठा आदि सब को उक्त भयावह आपगा के विविध अवयव मान कर उनसे अनासक्त होने का प्रयास करे साथ ही कलि की प्रचंडता और काल की कठोरता समझ बार-बार भगवान् की शरण में जाए[3]; अहंकार और मन की चंचलता दोनों को बंधन का महान् कारण जान उन्हें छोड़ने का सतत प्रयास स्वयं करता रहे और इस हेतु भी भगवत्कृपा का याचक निरंतर बना रहे; आभ्यन्तरिक मलोच्छेद कर हृदय को शुचि एवं पवित्र बनाए और सदैव यह विचार करता रहे कि जन्म-जन्म के अभ्यास के कारण मन मोह-जनित नाना प्रकार के विषयों से पंकिल हो गया है, आँखे परनारी को देखने से मलिन हो गई हैं, हृदय, वासना, मान, मद आदि के कारण मलिन हो गया है; मैं अपना सहज सुख छोड़ने के कारण मलिन हो गया हूँ, कर्ण पर-निंदा सुनते-सुनते और जिह्वा पर-निंदा गाते-गाते मलिन हो गई है, भगवद्भक्ति न करने से सभी प्रकार के मलों का भार मेरे सिर पर लद गया है—अतएव मेरे लिए इन सभी प्रकार के मलों से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है भगवद्भक्ति[4]। हृदय जब तक मल शून्य नहीं होता तब तक उसमें वैराग्य की प्रखर ज्योति देदीप्यमान नहीं होती और हृदय के

---

(१) 'मानस' अरण्य० १५.१

(२) विनय० पद ७३ "जागु जागु जागु जीव जोहै जग जामिनी।
देह-गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी ॥"

(३) वही पद ८१

(४) वही पद ८२

आलोकित हुए बिना न 'जगजोनि' भ्रमण ही बन्द होता और न शांति ही मिलती[१]।

त्याग का यथार्थ स्वरूप हृदयंगम कराकर उसकी परिपुष्टि में योग देने वाले अनेकानेक सुंदर पद 'विनयपत्रिका' में समाविष्ट हैं[२]। इन पदों के द्वारा गोस्वामी जी ने वह मनोज्ञ मार्ग बताया है जिसके अनुधावन मात्र से हम सच्चे त्यागी बन सकते हैं। ज्योंही हमें वास्तविक त्याग की पूर्ण अनुभूति होगी त्योंही हमारे हृदय से माया के प्रपंचों का नितांत अभाव हो जाएगा, और तत्परिणाम स्वरूप अनायास ही हमें आनन्द की सहजानुभूति होने लगेगी। इसीलिए संसार-संतरण का सर्वोत्कृष्ट उपाय है—त्याग। देखिए—

"बहु उपाय संसार तरन कहँ बिमल गिरा श्रुति गावै।
तुलसिदास 'मैं' 'मोर' गए बिनु, जिव सुख कबहुँ न पावै[३]॥"

कहना नहीं होगा कि 'मैं', 'मोर' ही माया का स्वरूप है—

'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई[४]॥'

संतमत और लोकमत का विरोधाविरोध

संत-भावना एवं संतों के विशिष्ट त्याग की इस संक्षिप्त चर्चा को साधुमत की झाँकी के लिए पर्याप्त समझ कर अब हम संतमत और लोकमत के विरोधाविरोध का प्रसंग छेड़ना चाहते हैं। इस प्रसंग के स्पष्टीकरण के हेतु इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कि संतमत का परिपालन वैयक्तिक साधन कहा जा सकता है और लोकमत का अनुसरण उन सार्वभौमिक सिद्धान्तों का अनुधावन कहा जा सकता है जो समाज के सुव्यवस्थित संचालन के लिए प्राचीन परंपरा से चले आ रहे हैं। एक दृष्टान्त के द्वारा भी संतमत और लोकमत का भेद समझ लीजिए। काकभुशुंडी के जन्मान्तर के आख्यान में गुरु ने शिष्य की घोर शठता देख कर भी उसका 'परम कल्यान' चाहा, यह साधुमत की बात है, क्योंकि—

---

(१) 'विनय०' पद १२३
(२) वही „ ११७, ११९–१२२, १२६, १३६, १९८, १९९, २०१
(३) वही „ १२०
(४) 'मानस' अरण्य० १४.२, ३

'उमा संत की इहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई[१] ॥'

इसके विपरीत हर ने क्रुद्ध होकर जो शाप दिया वह लोकमत की रक्षा हुई क्योंकि लोकमत के अनुसार नियमों के अतिक्रमण करने वाले व्यक्ति को दंडभागी होना चाहिए। प्रस्तुत दृष्टान्त में संतमत और लोकमत का विरोध दिखाई पड़ता है अर्थात् संतमत अपराधी का भी कल्याण चाहता है और लोकमत अपराधी को दंडनीय ठहराता है और दंड देता है। तुलसीदास लोकमत के ही समर्थक हैं, इसीलिए उन्हों ने लोकमत विरोधी को दंड दिलाया है। लोकमत की पुष्टि के लिए उन्हों ने 'दोहावली' में भी कई दृष्टान्त उपस्थित किए हैं[२]।

जहाँ संतमत और लोकमत में परस्पर ऐसे विरोध की संभावना नहीं जो लोक-हानि का कारण हो वहाँ संतमत ही श्रेयस्कर बताया गया है। देखिए—

'जूझे ते भल बूझिबो, भली जीति ते हारि।
डहके ते डहकाइबो भलो जो करिअ विचारि[३] ॥"

संतमत और लोकमत के विरोधाविरोध का निर्णय गोस्वामी जी के आदर्श पात्रों द्वारा भी किया जा सकता है। यथा, भरत जो संतों के साक्षात् प्रतीक हैं। फलतः वे संतमत के पक्के अनुयायी और आदर्श हैं। उनके विषय में स्वयं राम ने कहा है—"भरत कहे महँ साधु सयाने[४]।"

भरत के प्रायः सभी कार्य साधुमत के अनुसार हुए हैं। हाँ, जब वे राम को लौटाने के लिए वन में आए और वहाँ उनसे मिले तो अन्त में उन्हों ने राम को लौटा ले चलने का विचार छोड़ दिया—यही एक अपवाद है। यहाँ उन्हें लोक-मत के सामने साधुमत को महत्त्व देना ठीक नहीं जँचा। अतः प्रजा के कल्याण की कामना लेकर वे अयोध्या लौट आये; अवधि पर्यंत साधना करते हुए भी लोकमत के अनुसार प्रजा-पालन में संलग्न रहे।

राम ने लोकमत का कैसा निर्वाह किया यह भी द्रष्टव्य है। तुलसीदास के ही शब्दों में राम लोकमत के वशीभूत है—

---

(१) 'मानस' सुदर० ४०.७
(२) 'दोहावली' दो ३६३–४०१
(३) वही दो० ४३१
(४) 'मानस' अयो० २२५.५

'लोक एक भाँत को, त्रिलोकनाथ लोक बस,
आपनो न सोच, स्वामी सोच ही सुखात हौं[१] ।।'

यद्यपि गोस्वामी जी ने रामको 'लोक बस' ही बताया है, पर जहाँ कहीं उन्होंने राम की लीला दिखाई है वहीं उसमें साधुमत की प्रतिष्ठा कर दी है। वस्तुतः उनके विचार से राम साधुमत के पोषक होते हुए लोकमत के वशीभूत हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी। राम ने हाथ जोड़कर अनुनय-विनय करके समुद्र से पार जाने का रास्ता माँगा, उनका यह आचरण साधुमत के अनुकूल हुआ, परंतु अपनी याचना के निष्फल होने पर क्षुब्ध होकर—

'संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला[२]।।

अस्तु, उदधि के हृदय में ज्वाला उत्पन्न करने वाला सर-संधान लोकमत के अनुकूल हुआ क्यों कि लोकमत के अनुसार शठ से विनय करना ही भूल है[३]। वहाँ तो नीचों का गला दबा कर ही कार्य कराने का विधान है[४]। राम ने रावण आदि राक्षसों का वध भी लोकमत के कारण ही किया अन्यथा साधुमतानुसार तो सब कुछ खोकर भी संतोष किए बैठे रहना चाहिए था।

अन्त में अब जरा लक्ष्मण के लोकमत-पालन का नमूना देखिए। मैं समझता हूँ, लक्ष्मण लोकमत के उत्कट अनुयायी चित्रित किये गए हैं। इनकी साधुमत-पालन की प्रवृत्ति बहुत ढूढ़ने पर मिले तो मिले तो मिले। जब देखो तब वे लोकमत के अनुसार तुरंत कमर कसे तैयार रहते हैं। समुद्र-शोषण के लिए रामने बाद में जिस जिस लोकमत का अनुसरण किया उसे लक्ष्मण पहले ही बता चुके थे—

"नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिय सिंधु करिय मन रोसा।
कादर मन हहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा[५]।।

गोस्वामी जी का कुछ ऐसा निश्चित विचार अवगत होता है कि संतमत का पुट लोकमत के साथ तब तक अवश्य लगा रहना चाहिए जब तक कि प्रथम का द्वितीय से कोई विरोध नहीं होता; परंतु जहाँ वे परस्पर विरोधी हों वहाँ लोकमत को ही प्रश्रय मिलना चाहिए। इसदशा में साधुमत की किञ्चित

---

(१) 'कविता०' उ० छं० १२२
(२) 'मानस' सुंदर० ६७.६
(३) वही ,, ५२.२
(४) वही ,, ५८
(५) वही ,, ५०.३,४

उपेक्षा निंदनीय नहीं। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि व्यवहार-क्षेत्र में सर्वदा और सर्वथा अनुकरणीय है—लोकमत, किंतु साधना-क्षेत्र में साधुमत की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

स्त्रियों के प्रति संतों की परंपरा से गृहीत विचार

संत भावना के लोक में स्त्रियों की प्रतिष्ठा भी विचारणीय है। सर्वप्रथम देखना चाहिए कि प्राचीन परंपरा के पथिक विरागी साधु-संतों ने नारी के प्रति कैसे विचार प्रकट किए हैं। पहले परम विरागी भर्तृहरि सदृश महात्मा के उपदेशों को लीजिए—

"सत्यं जना बच्मि न पक्षपातो–लोकेषु सर्वेषु च तथ्य मेतत्।
नान्य न्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुःखैक हेतुर्न च कश्चिदन्यः[१]।।

इस निष्पक्ष उक्ति से स्पष्ट है कि नितम्बिनी सर्वोपरि मनोहर वस्तु तो है पर उससे बढ़कर कोई अन्य दुःखदायी वस्तु भी नहीं। नारी वैराग्य नष्ट करने का मुख्य कारण है यह सिद्ध करने के लिए भर्तृहरि ने कहा है–'यह विवेक रूपी निर्मल दीपक विवेकियों के हृदय में तभी तक प्रकाशमान् रहता है, जब तक वह मृग नयनी स्त्रियों के चंचल नेत्र रूपी अंचल से नहीं बुझाया जाता[२]।" और भी, "मनुष्य सन्मार्ग में तभी तक प्रवृत्त रहता है जब तक कि लीलावती भामिनियों के नयन बाण से बिधा नहीं जाता[३]।।" नारी का कटाक्ष नरक का द्वार उन्मुक्त कने का साधन भी माना गया है[४]। नारी माया की कैसी पिटारी है, यह देखिए—

"आवर्तः संशयानाम विनय भवनं पत्तनं साहसानां।
दोषाणां सन्निधानं कपट शतमयं क्षेत्रम प्रत्ययानाम्।।
स्वर्ग द्वारस्य विघ्नो नरकपुर मुखं सर्वमाया करण्डं
स्त्री यन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाशः[५]।।

उद्धरण में इङ्गित भयावहता और भी बढ़ जाती है जब कि भर्तृहरि नारी को विषैले सर्पसे भी अधिक विषैली सिद्ध कर देते हैं—सर्पका विष तो मन्त्रादि

(१) 'शृंगार शतक' श्लोक ५४
(२) वही ,, ५५
(३) वही ,, ५६
(४) वही ,, ६२
(५) 'शृंगार शतक' श्लोक ७६

तथा ओषधियों से उतारा जा सकता है, परन्तु स्त्री का विष किसी प्रकार नहीं उतरता[१]।

'भागवत' में स्त्री का संग और स्त्री का संग करनेवाले दोनों ही बन्धन के कारण ठहराए गये हैं–

"न तथास्त्र भवेन्मोहो बन्धश्चान्य प्रसंगतः।
योषित्संगाद्यथा पुंसो यथा तत्संगिसंगतः[२]॥"

चाणक्य नीति, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र प्रभृति नीति ग्रन्थों के नारी-विषयक ऐसे विचारों को विस्तार भय से छोड़, हम निर्गुण पन्थी दो महात्मा कबीर और दादू के नारी परक उपदेशों की ओर संकेतमात्र कर गोस्वामी जी की ओर बढ़ना चाहते हैं।

कबीर की दृष्टि में 'कांमणि काली नागणीं[३]' है; वह 'पांणि की मीनां[४]' भी है, अतएव छेड़ने पर काट खाती है। नारी क्या अपहरण करती है और उसके द्वारा साधक क्या खोता है, यह देखिये—

'नारी सेती नेह बुधि विवेक सबही हरै।
कांइ गवावै देह कारिज कोई ना सरै[५]॥'

× × × × ×

'नारी नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होई।
भगति, मुकुति निज ग्यान मैं पैंसि न सकई कोइ[६]॥'

कबीर ने 'कनक अरु कामनीं' को वह तीक्ष्ण ज्वाला घोषित किया है जिसे दूर से देखने पर भी शरीर भस्म होने लगता है और कहीं स्पर्श कर लिया तो बचाने वाला कोई नहीं[७]। अग्नि की ज्वाला के अतिरिक्त 'नरक का कुण्ड[८]' भी नारी ही है। इस कुण्ड में गिरने से बचने वाले विरले साधु ही

---

(१) वही „ ८३, ८६
(२) 'भागवत' ३।३१।३५
(३) 'कबीर ग्रन्थावली' कामी नर को अंग साखी १
(४) वही „ „ २
(५) वही „ „ ८
(६) वही „ „ १०
(७) वही „ „ १२
(८) वही „ „ १५

होते हैं। कबीर की ऐसी ही और भी बहुत सी साखियाँ हैं जिनमें उन्होंने भर पेट नारी-निंदा की है।

दादू दयाल ने भी कबीर ही की भांति कनक-कामिनी की कुत्सा की है। इन्हें माया का प्रबल रूप माना है[१]। दीपक की शिखा बताया है जिसमें जीव पतिंगे अनायास ही आकर भस्म होते हैं[२]। नारी 'नागिणि' के डसने से कोई नहीं बच पाता, अतः उससे बहुत सतर्क रहना चाहिये[३]। दादू के विचार से नारी 'नागिणी' ही नहीं वरं 'बाघिणी' भी है, जो लोग इसमें आसक्त होते हैं उन्हें यह निश्चय ही खा जाती है[४]। नारी को इतना खतरनाक समझ कर दादू दयाल सलाह देते हैं--

'नारी नैन न देखिए मुख सूं नाँव न लेइ।
कानौं कामणि जिनि सुणै, यह मण जाण न देइ[५]॥'

दादू के पश्चात् अब अपने कथनानुसार हमें गोस्वामी जी की ओर आना चाहिये पर उनके अनन्य जोड़े सूर को कैसे छोड़ा जाय। अस्तु, अधिक नहीं तो दो-चार शब्दों में ही हम सूर के विचारों को भी व्यक्त कर देना चाहते हैं। वर्ण्य, विषय, उपासना-पद्धति, एवं घोर रसिकता से संपृक्त अपनी व्यक्तिगत प्रवृति के कारण सूर ने जैसे अपनी रचनाओं में सामाजिक, नैतिक अथवा साधनात्मक अन्यान्य बहुत-सी बातों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया वैसे ही नारी निंदा-स्तुतिकी ओर भी। तो भी साधक होनेके नाते उन्होंने भी 'भामिनी' और 'भुअंगिन' की समता कर दी है--

"भामिन और भुअंगिन कारी इनके विषहि डरैए।
राचेउ विरचे सुख नाहीं भूलि न कबहु पत्यैए॥
इनके बस मन परे मनोहर बहुत जतन करि पैए।
कामी होइ काम आतुर तेहि कैसे पै समुझैए[६]॥"

---

(१) दादू दयालकी बानी' भाग १ (१२) माया कौ अंग साखी ३८, १३५
(२) वही ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ७२, ७३
(३) वही ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, १६०
(४) वही ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, १६१
(५) वही ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, १६२
(६) 'सूरसागर' पृ० ४०६

और भी— "नारी नागिन एक स्वभाउ।···
नागिन के काटे विष होइ।
नारी चितवत नर रहे मोइ[१]।"

संतों की परंपरा में स्त्रियों के प्रति जो विचार गृहीत थे उन्हें ध्यान में रखते हुए अब विचारणीय है कि इस संबंध में तुलसीदास की क्या धारणा थी? इसमें संदेह नहीं कि संतों के परंपरागत विचारों के अनुसार तुलसीदास ने भी स्त्री को बंधन का कारण मायारूप ही माना है पर उन्हों ने उसे 'नागिन', 'बाघिण', 'नरक-कुंड' आदि कह कर गालियाँ नहीं दी हैं। उन्हों ने मर्यादा के अनुरूप साहित्यिक ढंग से दर्शाया है कि काम-क्रोध-लोभादि-मद प्रबल मोह की सैना के शूर हैं और इन्हीं अजेय शत्रुओं में अति दारुण दुखद माया रूप नारी भी है[२]। नारी ही 'मोह-विपिन' की बसंत है; सारे जप-तप-नेम प्रभृति जलाशयों का शोषण करने के लिए नारी ग्रीष्म है; काम-क्रोध-मद-मत्सर रूप मेढकों को जीवन दान देने के लिए नारी वर्षा का प्रथम जल (दँवगरा) है; दुर्वासना रूप कुमुदों को उत्फुल्ल करने वाली शरद भी नारी ही है; वही समस्त धर्म रूप कमलों को झुलसाने से लिए हिम है, ममता रूप जवासा नारी-शिशिर को प्राप्त कर डहडहाता है, पाप-उलूकों के लिए सुखकर निविड़-तिमिरमय रजनी भी नारी ही है; इतना ही नहीं, सत्य, शील, बुद्धि, बल, रूप मछलियों को फँसाने की तीक्ष्ण बंसी (कटिया) भी नारी है[३]। प्रमदा ही अवगुणों की मूल, शूलप्रदायिनी, यातनाओं की खान है[४]। युवती का तन दीप-शिखा के समान है उसमें भस्म होने के लिए मन को पतिंगा नहीं होना चाहिए[५]। बैर और मृत्यु का कारण भी नारी है। मृग-नयनी का कटाक्ष सर बड़ा ही भयंकर होता है उससे बचने वाले धन्य हैं।

तुलसीदास के इन विचारों से स्पष्टतया प्रकट होता है कि उन्हों ने नारी के उस पक्ष को उद्घाटित किया हैं जिसके द्वारा विराग की पुष्टि होती है। संकेत किया जा चुका है कि इन्द्रियों के विषयों पर अधिकार पाना सच्चा त्याग है। स्त्री अनेकानेक विषयों की पोषिका है। फलतः एकमात्र स्त्री के प्रति

---

(१) 'सूरसागर' पृ० ६५
(२) 'मानस' अरण्य० ४३. 'दोहावली' दो० २६६
(३) 'मानस' अरण्य० ४३.१-८
(४) वही „ ४४.
(५) 'मानस' अरण्य० ४६. 'दोहावली' दो० २६६ 'विनय० पद १४२

वैराग्य आ जाने पर कितने ही विषयों का दमन स्वयमेव हो जाता है; इस हेतु प्रमदा के प्रति त्याग की वृत्ति उत्तरोत्तर दृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि साधक उससे विरक्ति उत्पन्न करने वाले विचारों की ओर ध्यान दे। मन दीर्घ रोगी की भाँति कुपथ्य ही चाहता है, परन्तु चतुर साधक-वैद्य उसे कुपथ्य से हटा कर कड़वी औषध के समान विराग के साधनों का सेवन ही बताता है। यही कारण है कि अन्यान्य संतों के इस विचार से गोस्वामी जी की विमति नहीं कि साधन-क्षेत्र से च्युत करने और पतन के गर्त में ढकेलने में नारी का बड़ा हाथ रहता है।

तुलसीदास ने नारी-प्रकृति के कृष्ण-पत्त और उसकी सहज दुर्वृत्तियों को खोल-खोल कर इसीलिए दिखाया है कि उस ओर ध्यान जाते ही नारी के प्रति अनासक्ति हो। इस संबंध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उन्हों ने कोई अनर्गल या मनमानी बात नहीं कही है। वस्तुतः नारी प्रकृति की जो दुर्बलताएँ प्राचीन परंपरागत शास्त्रों में वर्णित हैं अधिकांश में वे ही दर्शायी गई हैं। उन्हों ने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर भी जो कुछ कहा है उसमें लल्लू-बुद्धू के अप्रतिभ अनुभवों की एकांगीकता नहीं प्रत्युत सर्वजनीन सार्वभौमिकता है।

तिरिया चरित्तर अपार, अगम्य सागर है[१]; दर्पण में हम अपना प्रतिबिंब भले ही पकड़ लें किंतु 'नारिगति' हमारी पकड़ के बाहर है[२]; प्रबल अबला सब कुछ कर सकती है[३]; उसकी लीला को समझना टेढ़ी खीर है उसे विधाता भी नहीं जान सकते[४]; नारी कैसी कामान्ध होती है इसका तो कुछ कहना ही नही, मनोहर पुरुष देखते ही वह मर्यादा का अतिक्रमण कर बैठती है—

''भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥'
होइ बिकल मन सकइ न रोकी। जिमि रबि मनि द्रव रबिहि बिलोकी[५]॥'

इसके अतिरिक्त वह इतनी बेवफा होती है कि हृदय में रखने पर भी किसी की नहीं होती—

"राखिय नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं[६]॥"

---

(१) 'मानस' अयो० २६.७
(२) वही ,, ४६.८
(३) वही ,, ४७.
(४) वही ,, १६०.४
(५) वही अरण्य० १६.५, ६, ८
(६) वही ,, ३६.९

नारी के ये आठ अवगुण जन्म-सिद्ध माने गए हैं—
'साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया[१]॥"

जड़ता और अज्ञता स्त्री-प्रकृति के सहज अंग हैं[२]। गोपन की प्रवृत्ति भी उसकी स्वभावगत प्रमुख विशेषता है[३]। वह सशंक और कच्चे मनवाली भी होती है[४]।

तुलसीदास ने स्त्री-स्वभाव के इस निकृष्ट स्वरूप का चित्रण जिस अभिप्राय से किया है वह यही है कि साधना-क्षेत्र में पाँव रखने वालों का मन रमणी में न रमे। इसके अतिरिक्त उनका कोई अन्य मन्तव्य सोचना ठीक नहीं। वे स्त्री-जाति से चिढ़े थे अथवा उन्हें उससे कटु अनुभव हुआ था, इसलिए उन्हों ने ऐसा चित्रण किया ऐसी बात नहीं। यदि कोई घोर विषया-सक्त अपनी प्रबल आसक्ति के कारण किसी कुलटा में ही समस्त गुणों को ला-लाकर आरोपित करे और उसके अंग-प्रत्यंग में मोक्ष का साधन बताए तो इसका अभिप्राय यह नहीं हुआ कि वह स्त्रियों के प्रति बड़ा उदार है प्रत्युत यहाँ यही कहना समीचीन होगा कि वह अपनी आसक्तिवश प्रशंसा का पुल बाँध रहा है। इसी प्रकार यदि कोई विरक्त अपना वैराग्य दृढ़ करने अथवा औरों का वैराग्य दृढ़ कराने के लिए नारी-निंदा करे तो उसका आशय यह नहीं हुआ कि वह नारी-जाति के प्रति अनुदार है।

गंभीरता से विचार किया जाय तो अवगत होगा कि तुलसीदास ने लोक-कल्याण के विचार से भी स्त्री-प्रकृति के कृष्ण-पक्ष का प्रकाशन किया है। उन्हों ने नारी-स्वभाव की जिन त्रुटियों को दिखाया है वे उसमें अधिकांश में रहती हैं अवश्य। यह दूसरी बात है कि किसी में न्यून मात्रा होती हैं और किसी में अधिक। नारी-जाति का सब से बड़ा समर्थक होकर मैं मुँह से भले ही कह दूँ कि नारी इन निर्बलताओं से शून्य होती है पर मेरी अन्तरात्मा कदाचित् ही ऐसा कह सके और यदि मेरा हृदय सचमुच ही नारी को इन दोषों से रहित स्वीकार करता है तो मैं यही कह सकता हूँ या तो मुझे नारी-हृदय की परख नहीं अथवा उसकी माया में पड़ कर मैं उसके वास्तविक रूप को नहीं पहचान पाया। ऐसी दशा में हमें गोस्वामी जी की परख

---

(१) 'मानस' लं० १५.३
(२) वही बा० ५७.
(३) वही ,, ५२.
(४) वही ,,५०.६, लं० ३६.२

को ही ठीक समझना चाहिए और विचार करना चाहिए कि इस ठीक परख से मेरे अथवा लोक के कल्याण की संभावना किस रूप में होगी। व्यक्तिगत रूप में संभाव्य कल्याण यही कहा जा सकता है कि हम नारी के फेर में पड़ कर बरबाद नहीं होंगे। कल्पना कीजिए कि हम इसे पक्की बात मानते हैं कि स्त्री एकान्त पाकर मर्यादा का अतिक्रमण करके हमारी ही भाँति चंचल हो सकती है फिर तो हम एकान्त में किसी स्त्री के साहचर्य का अवसर ही नहीं आने देंगे। यदि हम जानते हैं कि नारी में अविवेक की मात्रा अधिक है तो हमें उसके अविवेकमय कार्यों का कुफल नहीं भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हम इस तथ्य से परिचित हैं कि स्त्री अपनी चंचलतावश बड़े से बड़ा अनर्थ कर सकती है तो हम उसके अनर्थों से भी सावधान रह सकते हैं। एक उदाहरण से इन बातों का स्पष्टीकरण हो जायगा। मान लीजिए हमारे पास एक सधा हुआ स्वामिभक्त अश्व है जो किसी समय अपनी अमुक नैसर्गिक प्रेरणा होने पर हमें अपनी पीठ से फेंकने का प्रयत्न करता है, इस परिस्थिति में घोड़े की उस विशिष्ट प्रेरणा को भलीभाँति जानकर ही हम सतर्क और सुखी रह सकते हैं। यही बात स्त्री पर घटाइए। यावत् हमें उसकी प्रकृतिगत निर्बलताएँ नहीं मालूम रहतीं। तावत् उससे गाफिल पड़ कर हम चूर-चूर हो सकते हैं। स्त्री यदि अपनी जन्मजात दुर्बलताओं को जानती रहती है तो वह भी उनके निराकरण का प्रयास करेगी। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि बाबा जी ने नारी के कृष्णपक्ष की अभिव्यक्ति करके साधुमत का तथा लोकमत दोनों ही को योग दिया। इसी प्रसंग में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लोकहित के लिए नारी जाति का वह शुक्लपक्ष जो जीवनदायक होता है तथा जिससे समाज उत्तरोत्तर समृद्ध और सुखी होता है उसकी भी व्यापक और हृदयग्राहिणी अभिव्यक्ति गोस्वामी जी ने की है। इस विषय की यथेष्ट चर्चा मैंने अन्यत्र की है‡।

तुलसीदास के 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी' ''रविहि बिलोकी।' का प्रतिस्पर्धी वक्तव्य किसी अन्य सन्त की रचना में नहीं मिलता इसलिये वे नारी के प्रति अनुदार ठहराये गये हैं*। ऐसी नीतिपरक उक्तियों के आधार पर फैसला देना उचित नहीं। 'हितोपदेश' सदृश नीति-ग्रंथ में भी ऐसी उक्ति समाविष्ट है—

‡ देखिए—'तुलसीदास और उनका युग' के 'तुलसीदास का सामाजिकमत' शीर्षक परिच्छेद में सन्निविष्ट 'समाज में स्त्रियों का स्थान'

* दे० माताप्रसाद गुप्तः 'तुलसीदास' पृ० ३०१—२

सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं जनकं वा सुतम्।
योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद[१] ॥'

भ्राता, पिता, पुत्र आदि के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर चलायमान होने की बात खटकती है अवश्य, पर सांप्रतिक काल में भी ऐसे दृष्टांतों का पूर्ण अभाव नहीं। तुलसीदास के युग में मुसल्मानी संस्कृति के प्रभाव के कारण कदाचित् ऐसी घटनाएँ अधिक घटित होती रही हों और उन्हीं के आधार पर इस स्पष्टवादी महात्मा ने यह बात कही हो। सर्वोत्तम अनुमान तो यह होगा कि यह उक्ति नीतिवाक्य के रूप में कही गई है। फलतः इसमें अर्थवाद ही समझना चाहिए।

मनुष्य आत्म-श्लाघा का भूखा होता है। उसे अपने दोषों का सुनना जहर-सा लगता है। वह अपनी प्रशंसा सुनने में अपार आनन्द का अनुभव करता है। इसीलिए यदि कोई हमारी प्रशंसा की उपेक्षा करके हमारे दोषों को दिखाता है तो हम उसे अनुदार कह बैठते हैं भले ही उसने हमारे हितार्थ ही हमारे उन दोषों को अनावृत्त किया हो। तुलसीदास पर अनुदारता का आरोप हमारी इसी मनोवृत्ति ने कराया है। परंतु तथ्य की बात तो यही है कि उनकी अनुदारता में भी साधुमत एवं लोकमत के प्रस्थापन की उदारता निहित है।

'मानस' में सती, सीता, कैकेयी प्रभृति असाधारण कोटि की जो पतिव्रता स्त्रियाँ प्रस्तुत की गई हैं उनमें भी उनकी प्रकृतिगत निर्बलताएँ जिनके कारण भयावह परिणामों की सृष्टि हुई उन्हें देखते हुए यह आवश्यक था कि गोस्वामी जी स्त्री-स्वभाव की सहज श्यामता को स्पष्ट कर देते।

अब आगे हम यह देखना चाहते हैं कि तुलसीदास की संत-भावना आदि प्रसंगो में चित्रित संत-स्वरूप हाथी का निकला हुआ दाँत है अथवा उनके व्यक्तिगत जीवन से भी उसका कोई संबंध है। और खुले शब्दों में कह सकते है कि तुलसीदास जी ने संतों की जो कसौटी बताई है उस पर उनके व्यक्तिगत चरित्र को कस कर हम उनकी संत-प्रकृति की जाँच करना चाहते हैं। उसके लिए प्रस्तुत परिच्छेद के आरम्भ में दिए संतों के लक्षण और 'तुलसी परिचय' परिच्छेद में अंकित गोस्वामी जी की चारित्रिक विशेषताओं को दृष्टि में रख कर तुलना करनी होगी।

---

(१) 'हितोपदेश' मित्रलाभ कथा ५ श्लोक १६५

संत और तुलसीदास की तुलना

संत-प्रकृति की प्रमुख विशेपता है—सरलता, कोमलता और विनम्रता; गोस्वामी जी की प्रकृति में इन तीनों गुणों की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। संतजन विश्व-कल्याण के लिए अवतीर्ण होते हैं; गोस्वामी जी का आविर्भाव भी संसार के हित के लिए हुआ। संतों की वाणी अज्ञान को दूर करने वाली और तापों को शांत करने वाली होती है; महात्मा तुलसीदास की वाणी में भी ऐसी ही शक्ति थी जैसा की उनकी रचनाएँ प्रमाणित करती हैं। संतजन सदाचारी होते हैं; तुलसीदास जी भी सदाचार के साक्षात् स्वरूप थे। संतलोग संसार के प्रति अनासक्त और परमात्मा के प्रति परमासक्त होते हैं; गोस्वामी जी को भी संसार से पूर्ण वितृष्णा और भगवान् में परमासक्ति थी। संतजनों को ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि का पूर्ण बोध होता है; तुलसीदास को भी इनका यथार्थ बोध था। संतजन वर्णाश्रम-धर्म, वेद, पुराण आदि में पूर्ण आस्था रखते हैं; तुलसीदास भी धर्मपरायण और वेद-शास्त्र- सेवी थे। कुमार्ग एवं अधर्म का मूलोच्छेद करना तथा सन्मार्ग एवं धर्म की रक्षा करना संतों का बाना है; गोस्वामी जी भी कुमार्ग और अधर्म को ध्वस्त करके सन्मार्ग और धर्म की नींव को अचल करने वाले थे। संतजन षड्विकारों के लक्ष्य नहीं होते; तुलसीदास में भी अहंकार आदि के चिह्न लेशमात्र नहीं मिलते, वे दैन्य के साकार प्रतीक थे। संतजन स्वप्न में भी परद्रोह नहीं करते; गोस्वामी जी में भी यही बात थी तभी तो उन्हों ने परद्रोह की घोर कुत्सा की है। संतो की सहिष्णुता भी सराहनीय होती है, वे खलों के वचन-विशिख से क्षुब्ध नहीं होते; तुलसीदास की सहिष्णुता भी उच्च कोटि की थी। संतों को, अनासक्त भाव से निष्काम कर्मों का सतत सम्पादन करते-करते वैराग्य दृढ़ हो जाने पर, वास्तविक तत्त्व-बोध के कारण संसार परमात्मा का ही विस्तृत रूप दिखाई पड़ने लगता है; गोस्वामी जी को भी यह तत्त्व प्रतिभासित हो चुका था। इसी से उन्हों ने—

"सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥"

× × ×

'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामी भगवंत।'

आदि की घोषणा की है।

गोस्वामी जी के द्वारा निर्दिष्ट संत-लक्षण और उनके व्यक्तिगत चरित की इस संक्षिप्त तुलना के उपरांत हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि तुलसीदास

सच्चे संत थे। उन्हीं ने संतों के जो लक्षण व्यक्त किए हैं वे शास्त्रीय होते हुए भी उनके व्यक्तिगत साधुचरित के प्रतिबिंब मात्र हैं।

संत-प्रकृति और नवधा भक्ति

संत-प्रकृति को ध्यान में रखते हुए विचारणीय है कि उसमें और गोस्वामी जी के द्वारा निरूपित नवधा भक्ति में क्या संबंध है। उस संबंध विशेष को समझने के पूर्व प्रस्तुत प्रसंग में निरूपणीय नवधा भक्ति का यह संकेत देखिये—

"तुलसी-भनित सबरी प्रनति, रघुबर प्रकृति करुना मई।[१]
गावत, सुनत, समुझत भगति हिय होय प्रभु पद नित नई॥"

अस्तु, प्रभु के पद में नित्य नूतन प्रेम उत्पन्न करने वाली नवधा भक्ति के सभी भेद द्रष्टव्य हैं। संत-सत्संग नवधा भक्ति का प्रथम प्रकार है और दूसरा है भगवान् की कथा वार्ता में अनुरक्त होना; गुरु के चरणों की सेवा करना तृतीय भेद है और चौथा है निष्कपट भाव से भगवान् का गुणानुवाद करना; पाँचवें भेद के अन्तर्गत परमात्मा में दृढ़ विश्वास रखने के साथ मंत्र, जपादि के अनुष्ठान आते हैं और छठें भेद में आचार, शील, साधु-धर्माचरण, इन्द्रिय-निग्रह और उत्तरोत्तर वैराग्य की पुष्टि सन्निहित हैं; सातवें भेदानुसार समत्व की दृष्टि मिल जाती है, समस्त संसार प्रभुमय दिखाई देने लगता है और साधु संत भगवान् से भी बढ़कर प्रतीत होने लगते हैं; आठवें भेद की विशेषता है कि भक्त स्वप्न में भी पर-छिद्रान्वेषण नहीं करता और जो कुछ भी उसे मिल जाता है उसी में परितुष्ट रहता है; अन्तिम प्रकार की नवधा भक्ति है मृदुल प्रकृति का होना, सब के साथ निष्कपट व्यवहार करना, अपने हृदय में एकमात्र भगवान् का अनन्य भरोसा रखना और हर्ष-विषाद आदि द्वंद्वों से शून्य हो जाना[२]।

नवधा भक्ति के इन भेदों से स्पष्टतया प्रकट होता है कि उनमें से कई भेद तो सदाचार-प्रतिष्ठा और वर्णाश्रम धर्म-पालन का ही संकेत करते हैं। हम जिस किसी वर्णाश्रम के हों उसके शास्त्र-विहित कर्मों को निष्काम भाव से करते चलें और उत्तरोत्तर अपनी प्रकृति को संत-प्रकृति के साँचे में ढालते रहें। ऐसा करते-करते अन्ततोगत्वा हमें भी मुनि और योगियों के पद की प्राप्ति होगी।

(१) 'गीतावली' अरण्य० गीत १७ (८)
(२) 'मानस' अरण्य० पृ० ३२०

संत-प्रकृति तथा नवधा भक्ति के अन्तर्गत जो विशेषताएँ दिखाई गई हैं यदि उनका परस्पर मिलान किया जाय तो स्पष्टतया प्रकट होगा कि जिसकी संत प्रकृति है अर्थात् जो संत है उसमें नवधा भक्ति के एक ही नहीं अपितु सभी प्रकार अनायास ही जगमगाते हैं। भरत सदृश एक संत चरित्र के द्वारा भी इस कथन की पुष्टि की जा सकती है। वन-गमन के समय मार्ग में जितने भी साधु-महात्माओं या भक्तों से उनका मिलन हुआ, अयोध्या के जितने भी ब्राह्मण, गुरु, मंत्री, सज्जन आदि उनके सम्पर्क में आये सभी का सत्संग उन्होंने पूर्ण निष्ठाके साथ किया। उन्होंने संतों के लक्षण[1] एवं माहात्म्य जानने की उत्कट जिज्ञासा प्रकट करके उसका समाधान श्रीमुख से कराया—इन सभी प्रसंगों से उनकी संत-संग की प्रथम भक्ति प्रकट होती है। राम-कथा में उनकी प्रीति अटल है, वे प्रत्येक क्षण उसे सुनने के लिए उत्कंठित रहते हैं; हनुमान से मिलने पर उनकी अप्रत्युपकार्य कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

"नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही[2]॥"

यह कथन भी उनकी भगवत्कथा विपयिणी प्रीति का ही परिचायक है। उनकी गुरु-सेवा के पक्के प्रमाण स्वरूप यह देखिए—

"तेहिते कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति भोरी[3]॥"

× × ×

'गुरु अनुराग भरत पर देखी। राम हृदय आनन्द विसेखी[4]॥'

नवधा भक्ति के चौथे भेद अर्थात् नाम जप या कीर्तन आदि में तो वे अहर्निश रमते ही थे[5] पाँचवें और छठें भेद की बातें अर्थात् मंत्र, जप, शील, आचार, धर्माचरण, इन्द्रिय-निग्रह तथा वैराग्य वृत्तियों का उत्तरोत्तर विकास आदि सभी उनमें विद्यमान थे जैसा कि निम्नांकित उद्धरणों से अवगत होता है—

'सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं[6]॥'

× × × ×

---

(१) वही उ० ४६०.—४६१.
(२) वही ,, १.१४
(३) वही अयो० २५६.६
(४) वही ,, २५७.१
(५) 'मानस' अयो० ३२४.१; उ० १.
(६) वही ,, ३२४.४

"सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय विमल अकासा[1]॥"

× × × ×

'हिय सप्रेम सुमिरहु सब भरतहिं। निज गुन सील राम बस करतहिं[2]।'

× × × ×

'जो न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुरि धरनि धरत को[3]।

× × × ×

'रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी[4]॥'

× × × ×

'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती[5]॥'

सातवें, आठवें और नवें भेद की विशेषताएँ भी उनमें थीं। वे समत्व की भावना को प्राप्त कर स्वार्थ और परमार्थ दोनों की व्यापक सीमा के आगे बढ़ चुके थे[6]; वे स्वप्न में भी पर-दोषों पर दृष्टि डालने वाले नहीं थे; उनके हृदय से द्वंद्वों का नितान्ताभाव हो गया था तभी तो उन्हों ने स्वयं कहा है—

'नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहु सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारि ही कृपानंद संदोह[7]॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधु भरत में नवधा भक्ति के सभी भेद वर्तमान थे। बात यह है कि जिस व्यक्ति में उक्त नवधा भक्ति होगी वह संत-प्रकृति का होगा और अवश्य होगा। गोस्वामी जी ने संत-प्रकृति और नवधा भक्ति में निकटतम एवं अन्योन्याश्रय संबंध ठहराया है। संतप्रकृति वालों के लिए यह भक्ति सुगम है क्योंकि—

'जो जेहि कला कुसल ताकहुँ सो सुलभ सदा सुखकारी।'

की बात पक्की है, इसके विपरीत जो लोग संतप्रकृति के नहीं हैं उन्हीं के लिए—"रघुपति भगति करत कठिनाई" का संकेत समझना चाहिए।

(१) वही „ ३२३.४
(२) वही „ २६३.८
(३) वही „ २३१.१
(४) वही „ ३२२.८
(५) वही „ ३२३.७
(६) वही „ २८७.७
(७) वही उ० ३६.

अन्त में, 'ज्ञानी मुनि' सुतीक्ष्ण और 'अधम जाति जोषित जड़' शबरी सदृश दो भक्त पात्रों की भक्ति का उत्कर्ष दिखा कर प्रस्तुत प्रकरण की इति की जायगी।

शबरी और सुतीक्ष्ण

सुतीक्ष्ण परम संत हैं; फलतः अविरल भक्ति, विरति, विज्ञान और सकल गुण-ज्ञान-निधान हैं[1]। भक्ति-बुद्धि की परिशुद्धि अथ च प्रेमभक्ति का प्रादुर्भाव तथा परिमाण सांसारिक प्रेमवत् लक्षणों से ही जाना जा सकता है[2]। अर्थात्, जैसे अनुभाव, रोमाञ्च, अश्रुपातादिक से लौकिक रसों के उद्रेक का अनुमान तथा लक्षण मनुष्यों में प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार भगवत्प्रेम रूपा भक्ति के प्रादुर्भाव का अनुमान ईश्वर के कीर्तनादि में भक्त के रोमाञ्च, प्रलाप, अश्रु-पात, लय आदि सात्त्विक अनुभावों के चिह्नों से किया जाता है और उन्हीं से प्रतीत हो जाता है कि भक्तके प्रेम की गहराई कितनी है। सुतीक्ष्ण की भक्ति का अनुभान निम्नांकित पंक्तियों से कीजिए---

"निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुंक फिर पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अविरल प्रेम भगति मुनि पाई, प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा[3]॥"

इस 'अतिसय प्रीति' का इतना तीव्र प्रभाव हुआ कि आत्म विस्मृति हो गई---

"मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा[4]॥"
"मुनिहिं राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा[5]॥"

× + ×

ऊपर के अवतरणों से स्पष्ट है कि सुतीक्ष्ण की भक्ति उनके अविरल राम-प्रेम की परिचायिका है। यद्यपि वे राम को विरज, व्यापक, सब के हृदयों

---

(१) 'मानस' अरण्य० १०. २६
(२) 'शांडिल्य सूत्र'॥ ४३॥ 'तत्परिशुद्धिश्च लोकवल्लिङ्गेभ्यः'
(३) 'मानस' अरण्य० ६. १०-१४
(४) वही ,, ६. १५
(५) वही ,, ६. १७

में निरंतर वास करने वाले ब्रह्म के रूप में जानते हैं तथापि उनके नराकार सगुण रूप का ही चिंतन करते हैं[१]। जब राम ने इस प्रेमा भक्ति से परम प्रसन्न होकर मुनि को वरदान देना चाहा उस समय भी मुनि ने नरवेश धारी सगुण राम की ही भक्ति माँगी—

'अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम[२]॥

और, इन कोसलपति, राजीव नयन राम के अतिरिक्त वे अपने हृदय में किसी अन्य को स्थान देने वाले नहीं——

'अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे[३]॥'

सुतीक्ष्ण के इन विचारों से ऐसा लगता है कि मानो तुलसीदास ने अपने निजी विचार व्यक्त किए हैं। ऐसी कल्पना न करके हम यह भी कह सकते हैं कि दोनों ही परम संत हैं अतः साम्य का होना स्वाभाविक ही है। उनमें प्रकृतितः भक्ति के सभी प्रकार अवगत होते हैं।

परम संत सुतीक्ष्ण की बात छोड़ अब दूसरी ओर आइए। शूद्रों और स्त्रियों की आध्यात्मिक उन्नति के द्वार पर अर्गला लगा कर वेदों ने उन्हें साधना-क्षेत्र से वञ्चित कर दिया था परंतु पुराणों ने उस द्वार को उन्मुक्त किया और शूद्र तथा नारी दोनों ही भक्ति के अधिकारी घोषित किए गए। तुलसीदास सभी प्रकार के अधिकारियों की भक्ति-भावना का निदर्शन उपस्थित करना चाहते थे। फलतः उन्हों ने निम्नवर्ण एवं नारी जाति की भक्ति-भावना का आदर्श भी दिखाया है। इसी से निषाद और शबरी की भक्ति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भगवद्भक्ति में लवलीन प्राणी सामाजिक व्यवस्था की तुला पर नहीं तौला जाता। अर्थात् जिसने अपने आपको भगवच्चरणारविंद में सर्वथा अर्पित कर दिया है वह अपने वर्ण में सर्व-सम्मति से अपवाद स्वरूप समझा जाता है। यथा, शूद्रवर्ण का कोई चांडाल है जो अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हुए निरन्तर भगवत्प्रेम में निमग्न रहते-रहते अन्त में भगवत्प्रेम का प्रतीक ही बन जाता है। इस दशा में वह भक्त अपने वर्ण को पुनीत करता हुआ स्वयं चांडाल कुल में अपवाद स्वरूप ही माना जायगा। समाज उसे परमोत्कृष्ट ही स्वीकृत करेगा।

---

(१) 'मानस' अरण्य० १०. १७, १८
(२) वही „ ११.
(३) वही „ १०. २१

यही भक्तों की छूट है। संत-जन इसके भूखे नहीं होते कि समाज उनकी प्रतिष्ठा अपवाद रूप से करे। पर भक्ति का प्रताप ही ऐसा होता है कि वहाँ—"नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल क्रियादि भेदः[1] का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। भगवद्भक्ति और प्रपत्ति के प्रताप से भक्तजन स्वयं उस विशिष्ट कोटि में पहुँच जाते हैं कि उन्हें भगवान् का स्वरूप ही माना जाता है—"यतस्तदीया[2]।" यही कारण है बहुत प्राचीन काल से सामाजिक उत्सर्गों में भक्तजन अपवाद ही माने गए हैं। तुलसीदास ने भी भक्तों के इस विशेषाधिकार का पूर्ण समर्थन किया है[3]। भक्त की कोई जाति हो वह स्वयं परम पवित्र है। उसके लिए सामाजिक प्रतिबंधों को तिलाञ्जलि देनी ही होगी। अन्यथा भक्ति और भक्त की महिमा ही क्या रह जायगी। एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त लीजिए। सामाजिक नियमानुसार निषाद शूद्र वर्ण का था, फलतः—

"लोक वेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा[4]॥"

योग्य था। पर नहीं, भगवत्प्रेम-निष्ठ और राम का अनन्य सखा था[5]। अतः निम्न वर्ण का होते हुए भी उत्कृष्ट माना गया है। परमोदात्त, धर्मधुरंधर भरत के हृदय से आलिंगन करने का अधिकारी ठहराया गया है[6]। भरत ही नहीं, ब्राह्मण-कुल-शिरोमणि वशिष्ठ ने भी उसे परम पवित्र ही जान कर हृदय से लगाया—

"प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि से दंड प्रनामू॥
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेहु समेंटा[7]॥"

स्निग्ध स्नेह जैसे अनर्घ पदार्थ में रंचमात्र भी धूल न लगे इसीलिए उसे मुनि इतनी उत्कंठा से समेट रहे हैं।

स्वयं राम ने भी ऊँच-नीच का बिना कोई भेद किए ही उसे हृदय से लगा कर भेंटा था—

---

(१) 'नारद सूत्र' ॥७२॥
(२) वही ॥७३॥
(३) दे० 'विनय' पद १०६; 'मानस' अयो० १९३.
(४) 'मानस' अयो० १९२.३
(५) वही „ १९१. ६,७
(६) वही „ १९२.
(७) वही अयो० २४१.५,६

"हिंसारत निषाद तामस वपु पसु समान बन चारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस नहिं कुल जाति बिचारी[१] ॥"

शबरी की भक्ति की चर्चा करते समय सर्व प्रथम हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि शबरी की भक्ति में सुतीक्ष्ण की भक्ति सी गहराई नहीं। राम के प्रेम में वह डूबी है अवश्य, पर उसकी तन्मयता इतनी नहीं बढ़ गई है कि राम के समीप आने पर भी उसे खबर न हो। वह तो सामान्य प्राणियों की भाँति राम की प्रतीक्षा में उत्कंठित हो कर—

"छन भवन,छन बाहर विलोकति पंथ भ्रू पर पानि कै[२] ॥

राम के सत्कार के लिये किए गए इस सामान्य उपक्रम से उसका सहज स्नेह छलकता है—

'दोना रुचिर रचे पूरन कंद-मूल-फल-फूल।
अनुपम अमियहुँ तें अंबक अवलोकत अनुकूल॥
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनि कै।
सुंदर सनेह सुधा सहज जनु सरस राखे सानि कै[३] ॥"

अन्त में, प्रेम के वशवर्ती राम सहानुज उसके समक्ष लोचन-गोचर होते हैं। उन्हें देखते ही उसने अपने को भगवच्चरणों में अर्पित कर दिया— 'सबरी परी चरन लपटाई'[४] प्रेमातिरेक वश मूक-सी होकर बारम्बार नमन करने लगी[५]। तदुपरांत चरण धोकर उन्हें सुंदर आसन पर विठा कर—

'कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाये, बारम्बार बखानि[६] ॥"

भगवान् केवल बखान कर ही नहीं खाए अपितु और भी माँग–माँग कर खाए—

"प्रभु खात माँगत, देति सबरी राम भोगी जाग के[७] ।"

यह दृश्य देख 'सिव,सिद्ध-सनकादि' भी उसके भाग्य की सराहना किये बिना

---

(१) 'विनय०' पद १६६
(२) 'गीतावली' अरण्य० गीत १७ [३]
(३) वही " " " "
(४) 'मानस' " ३३.८
(५) वही " ३३.९
(६) वही " ३४.
(७) 'गीतावली' " गीत १७ [६]

न रह सके। यदि कोई संदेह करे कि राम को शबरी का कंद-मूल-फल इतना क्यों भाया तो तुलसीदास उसका समाधान यों करते हैं—

"बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के।
सुनि समुझि 'तुलसी' जानु रामहिं बस अमल अनुराग के[1] ॥"

इसी 'अमल अनुराग' से ही मुक्ति भी हस्तगत होती है। तभी तो वह—

"अति प्रीति मानस राखि रामहि, राम धामहि सो गई।
तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई[2] ॥"

तुलसीदास की रचनाओं में शबरी का जो चित्रण मिलता है उसके आधार पर यह निर्णय करना कठिन है कि राम ने नवधा भक्ति के जिनभेदों को उसे समझाया वे सब उसमें विद्यमान् थे या नहीं; पर राम की इस उक्ति—

'नवमहुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे[3] ॥"

से स्पष्ट है कि उसमें नवधा भक्ति थी। भले ही वह अधम जाति की स्त्री थी; परंतु उसकी प्रीति सच्ची और उच्च कोटि की थी, इसी से भगवान् ने बिना किसी भेद-भाव के उसका उद्धार किया—

'अधम जाति जोषित जड़ लोक वेद तें न्यारी।
जानि प्रीति दै दरस कृपानिधि सोउ रघुनाथ उधारी[4] ॥"

---

(१) 'गीतावली' अरण्य० गीत १७ [६]
(२) वही „ „ १७ [८]
(३) 'मानस' „ „ ३५. ६, ७
(४) 'विनय०' पद १६६

तुलसी का प्रभाव

मानस की ख्याति और उसका उदात्त स्वरूप

पिछले दो परिच्छेदों में यथा संभव अंतः साक्ष्यों का आश्रय ग्रहण करके हमने गोस्वामी जी के व्यक्तित्व को अनावृत्त करने का किञ्चित् प्रयास किया और अब प्रस्तुत प्रकरण में उनके प्रभाव की विविध दिशाओं के संकेत द्वारा उनकी महत्ता का अनुमान करेंगे। 'रामचरित मानस' की अपरिमित ख्याति तथा उसके परमोदात्त स्वरूप के कारण तुलसीदास के प्रभाव की जो दिव्य ज्योति प्रस्फुटित हुई वह वर्णनातीत है। भारतीय ही नहीं, अपितु अन्यान्य देशीय विद्वज्जनों की दृष्टि में भी अत्युच्च आसन ग्रहण करने का अधिकारी गोस्वामी जी से बढ़कर अन्य कोई महाकवि या भक्त हिन्दी-साहित्य में नहीं दृष्टिगत होता। 'मानस' के प्रताप से वे असंख्य मानसों में प्रविष्ट हो गए और न जाने कितनों में प्रवेश कर रहे हैं। 'मानस' की सुकीर्ति के विषय में ग्रियर्सन का यह वाक्य अक्षरशः सत्य है—"इसकी सुख्याति सार्थक होने में तनिक भी संदेह नहीं। अपने देश में इसने सब ग्रन्थों पर प्राधान्य लाभ किया है और सर्व-साधारण पर इसका ऐसा प्रभाव पड़ रहा है कि उसे बढ़ा-चढ़ा कर कहना कठिन कार्य है[१]।" इसी प्रकार का एक दूसरा वाक्य भी उद्धरणीय है—"विलायत में जितना बाइबिल का प्रचार है उससे कहीं अधिक बंगाल और पंजाब एवं हिमालय और विन्ध्या के मध्यस्थ प्रदेशों में इस महान् ग्रंथ का प्रचार है[२]।" रामायण के प्रसिद्ध अंग्रेज़ अनुवादक ग्राउस साहब का निम्नांकित कथन भी 'मानस' की विश्रुति एवं उसके अति-भव्य स्वरूप का समर्थन कर रहा है—"रामायण केवल हिन्दुओं का राष्ट्रीय प्राचीन काव्य ही नहीं है किन्तु उसमें यह विशेष गुण भी है कि वह अपने देश-वासिओं के विश्वास तथा चरित्र का चित्र अत्यन्त सत्यता पूर्वक चित्ताकर्षक रूप में खींचता है। इसका फल यह होता है कि उसके अनुशीलन से योरप-वासियों के बहुत से मिथ्या विश्वास और दुर्भाव जो इस संबंध में हैं दूर हो जाते हैं और दोनों

(१) "जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी" १६०३ पृ० ४५१
(२) वही ,, ,, ४५६

जातियों में परस्पर समानुभूति की वृद्धि होती है[१]।" रामायण में वर्णित पात्रों से प्रभावित होकर ग्राउस साहब यह भी लिखते हैं—"कोई व्यक्ति राम, सीता, भरत तथा लक्ष्मण के सद्गुणों पर मुग्ध होकर इन लोगों की पूजा चाहे न करे, किन्तु इनके सद्गुणों की सराहना सभी करेंगे। हम कहते हैं कि इन्हें कोई ईश्वरावतार या ईश्वरांश माने या न माने परंतु अपने अलौकिक भव्य गुणों से ये लोग अवश्य ईश्वरत्व और देवत्व को प्राप्त हैं और सब पूज्य हैं। हिन्दू-समाज में चिर काल से घर-घर में इनकी पूजा होती आई है और अवश्य होनी चाहिए। इन्हीं लोगों पर श्रद्धा-भक्ति रखने, इन्हीं की पूजा करने, इन्हीं महापुरुषों के सुकार्यों से शिक्षा-ग्रहण तथा उनका अनुकरण करने से मनुष्य का उभय लोक में कल्याण हो सकता है[२]।"

हमारे स्व० कवि सम्राट् 'हरि औध' ने 'मानस' के प्रचार और अत्युदात्तत्व का संकेत करते हुए कहा है—"ऐसा ग्रंथ जो हिन्दू जाति का जीवन सर्वस्व, उन्नायक और कल्पतरु है जो आदर्श चरित का भंडार और सद्भाव-रत्नों का रत्नागार है, जो आज दस करोड़ से भी अधिक हिन्दुओं का सत्पथ प्रदर्शक है, यदि है तो 'रामचरित मानस' है, और वह गोस्वामी जी के महान् तप का फल है[३]।"

स्व० रामदास गौड़ ने 'मानस' को चारों पदार्थों का साधन माना है। देखिए—"इस विचित्र ग्रंथ के सहारे वर्णमाला सीखने के लाभ से लेकर भुक्ति और मुक्ति तक लोग कमा लेते हैं। सचमुच 'मानस' कहीं तो प्रकाशकों या रोजगारियों को अर्थ दे रहा है तो कहीं धर्म-प्राणों को धर्म सिखा रहा है, काव्य-मर्मज्ञों को लोकोत्तर आनन्द दे रहा है और मुमुक्षुओं को भक्ति-मार्ग से ज्ञान और तदुपरांत मोक्ष तक भी पहुँचा रहा है। ऐसे विरले ही ग्रन्थ होते हैं जो चारों पदार्थ देने वाले हैं[४]।"

श्रीमैथिली शरण गुप्त 'मानस' को कौन-सा पद देते हैं, इतना और देख लीजिए—"कहने को तो हम वेद-शास्त्रों का नाम लेते हैं, परंतु सच्ची बात यह है कि आज 'रामचरित मानस' ही हमारा धर्म-ग्रन्थ है। मैं समझता हूँ उसे यह पद देकर हमने कुछ नहीं खोया, उल्टा सब कुछ एक साथ ही पा

---

(१) दे० ग्राउस: "रामायन आव तुलसीदास" की भूमिका
(२) दे० 'रामायन आव तुलसीदास' की भूमिका
(३) 'संदर्भ सर्वस्व' पृ० १४५
(४) रामदास गौड़: "मानस की भूमिका" पूर्वा खंड पृ० १०६

लिया है। तुलसी ने लोक और वेद से जो कुछ भिक्षाटन करके पाया, सब अपने प्रभु को समर्पण कर दिया। उस भोग का प्रसाद जिसने पाया उसका भी लोक-परलोक बन गया[१]।"

जिज्ञास्य है कि 'मानस' की कीर्ति के आधारभूत कारण क्या हैं? 'मानस' की ख्याति के सर्वप्रमुख कारण हैं—तुलसी के राम। अपनी विश्वव्यापिनी अन्तर्दृष्टि के बल पर गोस्वामी जी ने राम के अति व्यापक एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप का स्वयं साक्षात्कार कर चुकने के उपरांत ऐसा सार्वभौमिक निर्देश किया कि सभी लोग उसे अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल पाकर स्वभावतः उसकी ओर आकृष्ट हों। निस्संदेह तुलसी के पूर्व भी बहुत से संतों ने राम का स्वरूप दिखाने का प्रयास किया था, पर उन महात्माओं ने राम को सीमित-सा कर लिया था, इसी से उन्हों ने राम को केवल अव्यक्त, परात्पर ब्रह्म का ही प्रतीक माना। निर्गुणियों के राम का यही रहस्य है। तुलसी ने गंभीर आध्यात्मिक दृष्टि से राम को अव्यक्त परात्पर ब्रह्म तो माना ही है साथ ही साक्षात् मानव दाशरथि राम रूप में भी ग्रहण किया है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को अभेद माना है[२] भेद मान कर चलने वालों को निंद्य ठहराया है[३]।

दोनों स्वरूपों को अभिन्न मानने के परिणाम स्वरूप यदि गूढ़ अध्यात्म तत्त्वों के पारदर्शी मुट्ठी भर ज्ञानी जनों के उरों में राम ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप से चिंतन के विषय हैं तो अधिकांश जन-सामान्य के हृदय में अवतीर्ण राम के रूप में अर्चित हैं। इस प्रकार तुलसी के राम में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भावनाएँ परितुष्ट हो जाती हैं। एतदर्थ दोनों प्रकार की भावना वाले रामोन्मुख होने के लिए 'मानस' को उत्कृष्ट साधन समझ उसी के सहारे अपने इष्ट को प्राप्त करना चाहते हैं। 'मानस' राम के सम्मुख ले जाने का अचूक साधन है—

जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी[४]॥"

विभिन्न दार्शनिक दृष्टि कोणों का समन्वय भी 'मानस' की ख्याति का दूसरा कारण है। यह ऐसे ही समन्वयवाद का परिणाम है कि अद्वैत, विशिष्टा-

---

(१) 'कल्याण' मानसाङ्क पृ० १०६०
(२) 'मानस' बा० ११५. १ 'सगुनहिं अगुनहिं नहीं कछु भेदा।'
(३) वही ,, ११४.१—८
(४) 'मानस' बा० १४. १०, ११

द्वैत, द्वैत आदि सभी सिद्धान्तानुयायियों के बीच 'मानस' की कीर्ति की मधुर स्वर-लहरी गूंजती हुई कर्णगोचर होती है। इसमें निर्दिष्ट साम्प्रदायिकता इतनी व्यापक और सार्वभौमिक है कि इसमें सभी सम्प्रदाय वालों को अपने-अपने सम्प्रदाय के सत्य मूल तत्त्व की प्रतिष्ठा मिलती है। फलतः यह अधिकांश सम्प्रदायों में आदृत है। शैव और वैष्णव दोनों ही भक्तिपूर्वक इसका पारायण करते हैं। यह बहुतों की दृष्टि में इसलिये भी सम्मानित है कि इसमें प्राचीन भारतीय हिन्दू-संस्कृति, परंपरागत नियम, विश्वास, किं बहुना समस्त भारतीयता के उच्चादर्शों के अध्ययन की सामग्री भी है। लोक भाषा में होने के कारण भी इसकी ख्याति हुई है। गोस्वामी जी अधिक से अधिक पाठकों को लाभ पहुँचाना चाहते थे और चाहते थे जगत् का उपकार करना। यही कारण है कि अच्छे संस्कृतज्ञ होने पर भी उन्हों ने 'मानस' का प्रणयन लोक-भाषा में ही किया। इसी अभिप्राय से महात्मा लूथर और टिंडेल आदि ने भी अपने देशवासियों के लिये, 'बाइबिल' और 'न्युटेस्टामेंट' की रचना देश भाषा में ही की थी। मिल्टन जैसे महान् लैटिन-ज्ञाता कवि ने भी अधिकांश लोगों के हितार्थ ही अपनी रचनाएँ प्रचलित देश भाषा में ही की। भाषा ही नहीं; भाषा को काव्य के अप्रतिम सांचे में ढली रहने के कारण भी मानस की ख्याति बहुत बढ़ी है। इसे बड़े-बड़े सहृदयों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म काव्य की कसौटी पर कस चुकने पर अद्वितीय स्वीकार किया है। तुलसीदास के महान् व्यक्तित्त्व से भी 'मानस' की कीर्ति का विस्तार हुआ है।

'मानस' के उदात्त स्वरूप की चर्चा भी दो चार वाक्यों में इसी सिलसिलेमें हो जानी चाहिए। मानसकी ख्याति और उसके स्वरूप की अतिभव्यतामें बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। वस्तुतः इसने जो लोकोत्तर ख्याति पाई है उसके मूल में इसके उदात्त स्वरूप का ही श्रेय है। यह उदात्तता एकाङ्गी न होकर सर्वांगीण है। क्या नायक, क्या विषय, क्या भाव, क्या चरित्रांकन,क्या चित्रित वातावरण किसी दृष्टि से विचार करने पर सर्वत्र भव्यता ही भव्यता दृष्टिगत होती है ग्रंथ की इस चतुर्दिक् उदात्तताको देख हम कह सकते हैं कि जिस दिन संसार मानवता का पूर्णस्वरूप समझ लेगा उसी दिन से 'मानस' अपने उदात्त स्वरूप के कारण विश्वमात्र का अनूठा आदर्श पथ-प्रदर्शक रूप में स्वीकृत हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। 'मानस' के उदात्त स्वरूपके विषयमें इसके प्रणेताने स्वयं कहा है—

"संबुक भेक सिवार समाना। इहाँ न विषय कथा रस नाना॥
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे[1]॥"

१ 'मानस' बा० ३७. ४,५

सारा ग्रंथ ढूँढ़ डालिए, कोइ ऐसा प्रसंग नहीं मिलेगा जो इसके उदात्त स्वरूप के प्रतिकूल हो ऐसी अतिभव्यता के कारण यह भारतीय होने पर भी सार्वलौकिक और सर्व-धर्म-समन्वयकारी कहा जा सकता है।

समकालीन समाज पर प्रभाव

तुलसीदासका सामयिक वातावरण नाना प्रकारके मत-मतान्तरों के चक्रव्यूह से घिरा पड़ा था। प्राचीन सनातन धर्म का अभ्युदय ही नहीं रुका था अपितु वह नाना प्रकार के कुठाराघातों से ह्रास को प्राप्त हो रहा था[१]। ऐसे ही समय में उस व्यूह के भेदनार्थ मानो गोस्वामी जी ने 'मानस' रूप ब्रह्मास्त्र का निर्माण किया। अब आइए विचार करें कि उनका समकालीन समाज उनके तेज-पुंज से कहाँ तक प्रभावित हुआ।

प्रस्तुत ग्रंथ के 'तुलसी-परिचय' परिच्छेद में अंतःसाक्ष्यों के द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है कि तुलसीदास की प्रतिष्ठा उनके जीवन काल में ही बहुत बढ़ गई थी। इस सम्मान-वृद्धि से उनकी प्रभावशीलता के अतिरिक्त और क्या प्रकट होता है। बाबा जी का समकालीन समाज उनसे प्रभावित हुआ इसका एक प्रमाण यह भी है कि शैवों और वैष्णवों का साम्प्रदायिक संघर्ष पूर्ण रूप से नहीं तो अंशतः ठंढा ही पड़ गया। शैवों में अग्रगण्य मधुसूदन 'सरस्वती' ने जिन शब्दोंमें तुलसी की प्रशंसा की, वह देखने योग्य है–

"आनन्द कानने ह्यस्मिन तुलसी जंगमस्तरुः।
कविता मञ्जरी यस्य राम-भ्रमर भूषिताः।।"

उत्कट शैव के मुख से ऐसी प्रशंसा सुन कर क्या यह नहीं कहा जा सकता कि अपने समकालीन विचारशील शैवों के हृदय में भी गोस्वामी जी ने स्थान पा लिया था।

गोस्वामी जी के लिए अपना सम्मान प्रकट करने के निमित्त नाभादास जी ने जो छप्पय रचा है उसकी पहली ही पंक्ति "कलि कुटिल जीव निस्तार हेत बाल्मीकि तुलसी भयो[२]" उनकी उज्ज्वल कीर्ति और प्रताप साथ ही प्रभाव भी सूचित करती है। वस्तुतः अपने सम सामयिक समाज पर उनका प्रभाव

१ तुलसी के सामयिक ह्रासोन्मुख समाज का चित्र देखना चाहें तो "तुलसीदास और उनका युग" के 'तुलसीकी समकालीन परिस्थितियाँ' शीर्षक परिच्छेद पढ़ें।

२ दे० 'भक्तमाल' छप्पय १२९

इतना अवश्य बढ़ गया था कि लोगों ने उन्हें वाल्मीकि के अवतार के रूप में स्वीकृत कर लिया था। यह बात अंतःसाक्ष्य से भी प्रमाणित की जा चुकी है। जिनके हृदय में रामभक्ति का मधुर स्रोत प्रवाहित होता रहा अपने उन सभी सम-सामयिक व्यक्तियों पर तुलसीदास का प्रभाव अवश्यमेव पड़ा, कदाचित् इस ओर संकेत करने की आवश्यकता नहीं।

तुलसीदास का समकालीन समाज प्राचीन सनातन परंपराओं को भंग कर पतन की ओर बढ़ा जा रहा था; उनके सम-सामयिक नाम मात्र के ज्ञानी प्रचारक और सुधारक लोग प्राच्य सिद्धान्तों पर कुठाराघात करके स्वनिर्मित पंथों का पाठ पढ़ा रहे थे; उनकी सामयिक कतिपय उपासना पद्धतियाँ अनधिकारी साधकों के प्रमादवश अनाचारमय हो गई थीं; उनके युग का शासक-वर्ग प्रजा का शोषण करता और उसे दंड के शिकंजे में जकड़े था—तुलसीदास ने एक ओर इन सभी दानवीय लीलाओं की कड़ी आलोचना की और दूसरी ओर उन सब के हितार्थ उनके समक्ष भव्य आदर्श उपस्थित किए। अस्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब गोस्वामी जी के प्रभाव से अछूते रहे।

इतिहास के अनुशीलन से पता चलता है कि तुलसीदास के युग के पहले जहाँ यवनों के शासन-काल में संस्कृत-नाटकों के अभिनयादि का प्रायः लोप-सा हो गया था, वहाँ रास-लीला पराधीन हिन्दुओं का जैसे-तैसे मनोरंजन करा रही थी। अकबर के समय में भी हिन्दुओं के बीच रास-लीला का प्रचलन भली भाँति था। गोस्वामी जी को रास-लीला से संतोष न हुआ और उन्हों ने राम-लीला की स्थापना की। समाज ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह भी सामान्य प्रभाव नहीं।

रामलीला को प्रोत्साहन

'रसिक प्रकाश भक्त माल' के आधार पर कहा जाता है कि गोस्वामी जी के पहले भी रामलीला होती थी। उस लीला के प्रवर्तक थे मेघा भगत। इन्हों ने भगवान के दर्शन के लिए अनशन व्रत किया और उनको स्वप्न में आज्ञा हुई कि साक्षात् दर्शन दुर्लभ है, तुम मेरी लीला का अनुकरण करो। तभी से मेघा भगत ने पहले-पहल रामलीला का सूत्रपात किया। मेघा भगत के समय की लीला इस समय काशी में चित्रकूट की लीला के नाम से प्रसिद्ध है। वही लीला प्राचीन है। पर 'मानस' को गा-गा कर उसके अनुसार रामलीला करने की जो प्रथा हम देखते हैं उसका प्रचलन तो तुलसीदास के समय से ही मानना होगा। आज भी वह गोस्वामी जी की लीला

के नाम से विख्यात है। प्रत्येक वर्ष क्वार के महीने में यह अस्सी पर हुआ करती है। तुलसीदास के समय से रामलीला का जो स्वरूप चला वह शनैः शनैः उत्तरापथ के सभी भागों में प्रचलित हो गया। आए दिन भारत के अधिकांश प्रदेशों में रामलीला किसी न किसी रूप में पहुँच चुकी है। उत्तर-प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पंजाब आदि के प्रदेशों में इसका प्रचार विशेष रूप से है। राजस्थान के मध्य रामायण और रामलीला दोनों का प्रचार नगण्य है। महाराष्ट्र आदि के पांडुरंग के उपासकों के बीच अभी तक रामलीला का प्रभाव नहीं पहुँच सका है। यही बात सुदूर दक्षिण के शैवों और वैष्णवों तथा पूर्व के आसाम और उत्तर के काश्मीर प्रभृति स्थानों के संबंध में कही जा सकती है। अन्त में हमें यह न भूलना चाहिए कि उन प्रांतों में जहाँ हिन्दी भाषा का प्रचार नहीं है उनमें भी तुलसीकृत रामायणमें वर्णित रामलीला का प्रचार राम-लीला-मंडलियों के द्वारा किसी न किसी अंश में पहुँच गया है। ये मंडलियाँ नाटकीय ढंग से रंगमंच पर रामलीला करती हैं। इन मंडलियों का दौरा कभी-कभी राजस्थान, आसाम तथा दूरस्थ दक्षिण में हो जाया करता है। यह बात अवश्य है कि इन मंडलियों की संख्या बहुत अल्प होने के कारण इनके द्वारा राम-लीला का प्रचार व्यापक रूप से नहीं हो पाया है।

परवर्ती समाज पर प्रभाव

गोस्वामी जी के प्रभाव-प्रभात की कांचनाभ किरणें यद्यपि उनके जीवन काल में ही प्रस्फुटित हुईं तथापि इनकी प्रखर ज्योति उनके परवर्ती समाज पर पड़ी। आज वे अपने परम रमणीय काव्य कौशल के सहारे 'मानस' के रूप में अमर होकर करोड़ों मनुष्यों पर अपना प्रभाव जता रहे हैं। 'मानस' असंख्य प्राणियों के कल्याण-साधन का अद्वितीय सोपान बन रहा है। इसमें निर्दिष्ट पथावलंबन से न जाने कितनों का उद्धार हो गया; न जाने कितने अज्ञान-तिमिरान्ध उरों में ज्ञानोदय हो गया और न जाने कितने गए-बीते भी सन्मार्ग पर आ गए। यह तुलसीदास का प्रभाव ही है कि कहीं रामलीलाएँ होती हैं, कहीं रामायण के पारायण होते हैं तो कहीं प्रवचनों के प्रबंध होते रहते हैं। कहीं छोटी-बड़ी कक्षाओं के छात्र अपनी पाठ्य पुस्तकों में 'मानस' से गृहीत अंशों की तैयारी करते रहते हैं तो कहीं डी० लिट् की परीक्षा के लिए प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले संशोधक विद्वान् 'मानस' की थाह लगाने की अप्रतिहत चेष्टा करते हैं; कहीं साधु-महात्माओं के समागम में 'मानस' की चर्चा होती है; कहीं विद्वन्मंडली में इस पर ऊहापोह होता है और कहीं एकांत

सेवी साधक इस ग्रंथ का चिंतन करते हैं। इस प्रकार 'मानस' के प्रभाव का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

अपने परवर्ती समाज पर गोस्वामी जी ने जो प्रभाव छोड़ा है उसे बढ़ा-चढ़ा कर कहने की अपेक्षा नहीं। यह उनके प्रभाव का ही फल है कि प्रत्येक वर्ष सहर्ष हम उनकी जयंती मनाते और स्वयं कृतार्थ होते हैं। राम-भक्ति-विकास के साथ ही राम-भक्तों की उत्तरोत्तर बढ़ती संख्या भी क्या तुलसीदास के प्रभाव से बची होगी ?

गोस्वामी जी ने राम-नाम का माहात्म्य सर्वोपरि बताया है। नाम को ही समस्त यज्ञों, महायज्ञों का उपादान ठहराया है। उनके परवर्ती समाज ने इस संदेश में पूर्ण आस्था प्रकट की है। आज जब कि रणचंडी अपने दोनों हाथों में खप्परें लेकर अपनी जिह्वा लपलपाती हुई निरीहों का रक्तपान कर रही है; आज जब की दानवता अपने अत्याचारों की वह्नि प्रज्वलित कर मानवता को क्षार करने पर तुली है—इस संकटाकीर्ण काल में तुलसीदास के प्रभाव के कारण ही हमारे देश के कोने-कोने में अखंड-महा-संकीर्तन यज्ञ का स्वर निनादित हो रहा है। सम्प्रतिक भारत में अखंड-संकीर्तन की सक्रियता व्यक्त करने के लिए मैं प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के आरम्भिक भाषण का वह परचा जो कई वर्ष पहले त्रिवेणी तट के संकीर्तन धाम पर किए गए "अखंड-महासंकीर्तन-यज्ञ" के अवसर पर छपा था, उसके कुछ अंश अविकल रूप से उद्धृत करता हूं—

"संवत् २००० की शिवरात्रि से इस महान् यज्ञ का आरंभ हो गया था। दस दिनों तक प्रयाग की संकीर्तन मंडलियों ने चलाया और दस दिन से अब भारत वर्ष की भिन्न-भिन्न प्रांतों की मंडलियाँ चला रही हैं। दो दिन से आनेवाली मंडलियों का थोड़ी-थोड़ी देर, दस-दस, पाँच-पाँच मिनट इस पंडाल में संकीर्तन हो रहा है जिससे समस्त मँडलियों का परिचय हो जाय, किंतु मंडलियाँ इतनी अधिक आई हैं कि उनको यज्ञ-पंडाल में पूरा समय देना असम्भव है।.........भागलपुर, पूर्णिया, छपरा से लगभग पैंसठ मंडलियाँ आई हैं जिनमें आठ सौ भक्त हैं। गुंटुर के 'श्री सीताराम संघ' से भी बहुत से भक्त पधारे हैं; बंगाल से, महाराष्ट्र से, राजपुताना, मध्यभारत, ब्रजमंडल तथा अन्य प्रांतों से भी बहुत संकीर्तन मंडलियाँ आई हैं।.........अखंड संकीर्तन को भक्त धूम-धाम से चला रहे हैं। ब्रह्मंडल के समस्त पंडित महारुद्र याग को बड़े प्रेम और लगन से कर रहे हैं। भागलपुर की 'मानस-प्रचार-मंडली'

कितने उत्साह से अखंड रामायण-कीर्तन गाजे बाजे और धूम धाम से कर रही है। श्री अयोध्या जी की सुप्रसिद्ध रामलीला मंडली भी अपनी भावमयी लीला से भक्तों को आनन्दित कर रही है।'.................।"

भारतवासियों की एक बड़ी संख्या संकीर्तन में तल्लीन है, इसका आभास अवतरण से मिल ही गया होगा। आज कितने ही सात्विक भक्तगण वस्तुतः "हरे राम! हरेराम! राम! राम! हरे! हरे!" की प्रतिध्वनी से गगन भेद कर राम को रक्षा के लिए बुला रहे हैं। यह किसकी बताई युक्ति है? कहना नहीं होगा—संत तुलसीदास की।

कला क्षेत्र में प्रभाव

अपने गंभीर शास्त्रानुशीलन, विलक्षण कारयित्री प्रतिभा और अपरिमित लोक-व्यवहार-निपुणता की अखंड विभूति के बल पर तुलसीदास ने जो रमणीय साहित्य-क्षेत्र तैयार किया वह बेजोड़ है। उनके ऐसे अलभ्य साहित्यिक उपहार को प्राप्त कर हिन्दी काव्य उससे अप्रभावित कैसे रह सकता था। तुलसीदास के राम-चरित-गान का आलोक उनके समय में ही इतना प्रखर हुआ कि केशव-दास सदृश दरबारी कवि में भी 'रामचंद्रिका' लिखने की उत्कंठा जगी। पर सामान्यतः बहुत काल तक कलावानों की सूझ सोती रही। कालान्तर में कितने ही कवियों ने राम-कथा लेकर गोस्वामी जी की रचनाओं का अनुकरण किया। भले ही उन अनुकरण कर्त्ताओं की कृतियाँ तुलसीदास की कृतियों के सामने ख्याति न पा सकीं, पर यह तो निर्विवाद है कि गोस्वामी जी से प्रभा-वित हो कर ही उन लोगों ने रामायणों की रचनाएँ बढ़ाईं। रीतिकाल के घोर शृंगारी युग में भी महाराज विश्वनाथ सिंह ने अपनी अनेकानेक रचनाओं के अतिरिक्त 'रामायण' 'गीता रघुनंदन प्रमाणिक' 'रामचंद्र की सवारी' 'आनन्द रामायण' प्रभृति ग्रंथों की रचना की[१]। ललकदास के 'सत्योपाख्यान' में राम कथा का अच्छा विस्तार है[२]। नवल सिंह कायस्थ के 'रामचंद्र विलास' 'अध्यात्म रामायण' 'रूपक-रामायण' और 'रामायण सुमिरनी[३] आदि के' वर्ण्य-विषय भी उनके नाम से प्रकट हैं। 'भारतेंदु' के पिता बाबू गिरधर दास भी अपनी विविध कृतियों से संतुष्ट न रहे और उन्हों ने 'अद्भुत रामायण'[४]

---

(१) रा० शु०: 'हिन्द साहित्य का इतिहास' (नवीन संस्करण) पृ० ३७७
(२) वही ,, ,, ,, ४१६
(३) वही ,, ,, ,, ४२१
(४) वही ,, ,, ,, ४३२

ही लिख कर अपनी लेखनी को पवित्र किया। छोड़िए इन कवियों को। बीसवें शतक में भी रामचरित विषयक रचनाओं की सृष्टि प्रचुर परिमाण में हुई है। इस युग में अयोध्या के बाबा रघुनाथ दास और महन्त रामचरण दास की रचनाएँ तो हुई हीं[1], महाराज रघुराज सिंह का 'राम स्वयंवर' (सं० १९२६) वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य अच्छी तरह प्रतिष्ठित हुआ[2]। अयोध्या के पं० रामनाथ ज्योतिषी का 'राम चंद्रोदय' और पं० रामचरित उपाध्याय का 'राम-चरित चिंता-मणि' सदृश रत्न भी निर्मित हुए। श्री मैथिली शरण का 'साकेत' तथा 'हरिऔध' जी का 'वैदेही वनवास' भी इसी युग की देन हैं। राधेश्याम कृत रामायण गायकों का मनोरंजन अलग ही करा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम साहित्य हिन्दी काव्य में अभी तक प्रोत्साहित होता चला जा रहा है। तुलसीदास के पश्चात् राम साहित्य का जो विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत हुआ है वह उनके प्रभाव से वंचित नहीं कहा जा सकता।

तुलसीदास ने अपने विस्तृत साहित्य-क्षेत्र में 'हनुमान बाहुक' की विशिष्ट रचना करके भी अनेकानेक कवियों को अपना अनुयायी बनाया है। तभी तो हनुमत् चरित को लेकर भी बहुत सी रचनाएँ हुईं[3]। जैसा कि अनेकानेक हनुमत् पचीसियों, छत्तीसियों और पंचकों से अवगत होता है।

तुलसीदास की रामभक्ति की धारा से काव्य की कई पद्धतियों को प्रेरणा मिली। इनमें भी प्रवन्ध-पद्धति तो पूर्णतया सनाथ हो गई। इसकी ओर कतिपय कलाकारों का मन विशेष रूप से लगा। गोस्वामी जी के पूर्व यद्यपि जायसी ने दोहा और चौपाई में ही अपना प्रबंध रचा था, पर जायसी को आदर्श मान कोई प्रसिद्ध कवि चला हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी ने न उनके ठेठ को ही अपनाया और न उनके मसनवी ढर्रे ही को। इसके विपरीत तुलसीदास की साहित्यिक अवधी और उनका दोहा-चौपाई का क्रम न जाने कितनों ने ग्रहण किया। मंचित कृत 'कृष्णायन' तुलसीदास के रामायण के अनुकरण पर दोहा-चौपाई में लिखा गया, कवि ने तुलसी की पदावली तक का ग्रहण किया है[4]। मधुसूदनदास ने अपने बड़े और मनोहर प्रबंध काव्य 'रामाश्वमेध' में तो गोस्वामी जी की शैली का इतना गहरा अनुगमन किया है

---

(१) वही ,, १६९
(२) वही ,, ६४३
(३) दे० वही ,, १६९, ३९५, ४१०, ४११, ४२०
(४) दे० वही ,, ४०७

कि उक्त ग्रंथ सब प्रकार से 'मानस' का परिशिष्ट होने योग्य है। "इस ग्रंथ में प्रधानता दोहे के साथ चौपाइयों की है, पर बीच-बीच में गीतिका आदि और छन्द भी हैं। पद-विन्यास और भाषा-सौष्ठव 'रामचरितमानस' का-सा ही है। प्रत्यय और रूप भी बहुत कुछ अवधी के रखे गये हैं। गोस्वामी जी की प्रणाली के अनुकरण में मधुसूदनदास को पूरी सफलता हुई है। इनकी प्रबन्ध कुशलता, कवित्व शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनों उच्च कोटि की हैं। इनकी चौपाइयाँ अलबत्तः गोस्वामी जी की चौपाइयों से बेखटके मिलाई जा सकती हैं[१]।" तुलसीदास की प्रबन्ध वाली शैली के अनुकरणकर्त्ता और भी कितने ही कवि हैं पर स्थानाभाव के कारण उनका उल्लेख अनावश्यक समझा जाता है।

तुलसीदास के पूर्ववर्ती, सामयिक अथवा परवर्ती कवियों में प्रायः सभी ने भाषा के साथ बराबर बरजोरी की और रह रह कर उसके अंग-अंग मसल डाले और बेचारी उस कोमलांगी को विकलांगी बनाने में वे सब के सब तनिक भी न हिचके पर हमारे गोस्वामी जी ऐसा करने वाले न थे। वह तो असामान्य भाषा-नायक थे। उन्हों ने अवधी और ब्रज दोनों भाषा-नागरियों के साथ अपना ऐसा गूढ़ संबंध रखा कि दोनों ने अपना सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया। उन्हों ने दोनों को उच्चातिउच्च स्थान देकर ग्रहण किया। दोनों की सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्ति का मान रखते हुए उनके अंग-प्रत्यंग की सुषमा बढ़ाई। दोनों के लावण्यमय स्वरूप का अनोखा प्रतिमान स्थापित किया। ब्रजभाषा प्रकृतितः सामासिक पदों से हिचकती थी, पर जब वह तुलसीदास के समीप गई तो उसने अपनी रुचि में यथेष्ट परिष्कार कर लिया; वह समासयुक्त पदावली में भी अपनी मंजु इठलाहट दिखाने लगी। 'विनयपत्रिका' के पचासों पदों में एक से एक बढ़कर सामासिक पदावली प्रयुक्त हुई है। गोस्वामी जी की इस प्रवृत्ति का प्रभाव ब्रजभाषा के जगन्नाथदास 'रत्नाकर' सदृश कविरत्नों पर तो पड़ा ही है आए दिन खड़ी बोली के अनेकानेक महान् कवियों ने भी सामासिक पदावली का आधिपत्य स्वीकार कर लिया है। तुलसीदास ने ब्रजभाषा की अपनी उत्कृष्ट रचनाओं में कुछ पूर्वी प्रयोग भी कर दिये हैं। फलतः उनके परवर्ती कवियों में भी यह प्रवृत्ति निरादृत नहीं हुई। भाषा की सफाई की दृष्टि से घनानंद और 'रत्नाकर' जी ब्रजभाषा के अद्वितीय कवि माने जाते हैं, पर इन दोनों की रचनाओं में भी पूर्वी प्रयोग का अभाव नहीं। यह भी यदि गोस्वामी जी का प्रभाव कहा जाए तो कोई अनुचित नहीं।

---

(१) ,, वही ,, ४०८–९

यद्यपि कवि अपनी कवित्व शक्ति लेकर अवतीर्ण होता है, पर इस शक्ति को पूर्णतया आलोकित करने के लिए उसे कई अन्य साधनों के साथ उत्तमोत्तम कवियों की रचनाओं का अनुशीलन भी करना पड़ता है। कहना नहीं होगा कि तुलसीदास के अनुशीलन से न जाने कितने कवियों की कारयित्री प्रतिभा की पुष्टि हुई। इसी प्रकार उनका प्रभाव हमारे समीक्षकों पर भी कम नहीं पड़ा। औरों की तो बात ही छोड़िये, रामचंद्र शुक्ल-जैसे उत्कट समालोचक की भावयित्री प्रतिभा तुलसीदास के रंग में इतनी रँग उठी है कि उन्हों ने अपनी समस्त आलोचना का प्रतिमान मानो तुलसीदास की रचनाओं से गृहीत तत्त्वों से ही प्राप्त किया है।

रामायण की टीकाएँ

'मानस' पर अनेकानेक टीकाओं का निर्माण होना भी तुलसीदास का प्रभाव प्रकट करता है। हिन्दी साहित्य में ऐसा कोई अन्य कृतिकार नहीं दिखाई पड़ता जिसके ग्रंथ की लोकप्रियता इतनी बढ़ी हो कि उस पर भी मानस की टीकाओं की भाँति पचासों टीकाएँ हो चुकी हों और उत्तरोत्तर होती जा रही हों। मानस' की भिन्न-भिन्न हिन्दी टीकाएँ तो हैं ही साथ ही इतर भाषाओं—यथा, संस्कृत, उड़िया, बँगला, मराठी, गुजराती तथा अंग्रेजी आदि में भी उसके अनुवाद हुए हैं। इधर रूसी भाषा में भी 'मानस' के अनुवाद हुए बहुत दिन नहीं हुए। अंग्रेजी के गद्य और पद्य में 'मानस' का अनुवाद कर ग्राउस साहब ने बड़ी ख्याति पाई है। गुजराती टीका के कर्त्ता हैं—छोटा लाल चंद्रशंकर शास्त्री, इस टीका का प्रकाशन 'सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय' अहमदाबाद में हुआ है। मराठी टीका के रचयिता थे—श्री संत यादव शंकर जामदार। इनकी टीका पूना से सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी। मराठी और गुजराती दोनों की उक्त टीकाएँ गद्य में हैं। बँगला में कई अनुवाद हुए हैं और वे पद्य में हैं। इनमें से 'तुलसी चरितामृत' नाम से प्रकाशित प्रसिद्ध अनुवाद तथा कुछ अन्य अनुवादों का परिचय पं० रामनरेश त्रिपाठी ने दिया है†। उड़िया में 'मानस' के चार अनुवाद हुए हैं। इन चारों के कर्त्ता ये थे—गोविन्दसाव, खरिया के राजा बीरविक्रम सिंह, रामप्रसादसिंह-बोहिदारके बड़े भाई और पं० स्वप्नेश्वर दास*। 'मानस' का उत्तम संस्कृत अनुवाद महामहोपाध्याय श्री सुधाकर द्विवेदी ने सम्पन्न किया‡।

---

† दे० 'तुलसीदास और उनकी कविता' पहला भाग पृ० २६४
* वही " " पृ० २६२–६३
‡ दे० 'कल्याण' मानसाङ्क भाग १ पृ० ९०८

अस्तु, इन विविध भाषा-भाषियों के बीच तुलसीदास का प्रभाव 'मानस' के अनुवादों के द्वारा किसी न किसी रूप में अवश्य ही पहुँचा होगा।

'मानस' की हिन्दी टीकाएँ दो श्रेणी में विभाजित की जा सकती हैं—पुराने ढंग की और नए ढंग की। प्रथम वर्ग की टीकाओं के प्रसिद्ध टीकाकार हैं—ज्ञानी संत सिंह जी, कुर्मी बैजनाथ जी, पाठक शिवलाल जी, स्वामी काष्ठ जिह्वा जी, काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह जी, परम हंस हरिहर प्रसाद जी, मु० शुकदेवलाल तथा महन्त रामचरणदास जी आदि। उक्त टीकाकारों की टीकाओं में उनकी विभिन्न व्याख्या शैली के स्वरूप पर दृष्टि डालने से कुछ विशेष बातें दिखाई पड़ती हैं। इनकी भाषा प्रांतिकता से पूर्ण है। यदि संत सिंह की टीका की भाषा पंजाबी मिश्रित है तो बैजनाथ या बाबा राम चरण की पंडिताऊपन से ओत-प्रोत है। फलतः इन्हें समझने में उतनी सरलता नहीं होती। इन टीकाओं में भाषा के भाव की पुष्टि के लिए आर्ष ग्रंथों पुराणादि के श्लोक भी यत्र-तत्र उद्धृत किये गये हैं। इनमें कुछ ऐसी टीकाएँ भी हैं जो संस्कृत के अवतरणों के बाहुल्य के साथ एक सीधे-सादे अर्थ को खींच-तान करके स्पष्ट करने की जगह दुरूह बना बैठी हैं। कुछ टीकाकारों ने तुलसीदास का भावप्रतिपादित करने के लिए अपनी रचनाएँ पेश कर दी हैं। उन्हीं टीकाओं में कुछ ऐसी भी हैं जिनमें 'मानस' के कुछ अलंकारों और छन्दों का भी संकेत है।

दूसरे वर्ग अर्थात् नवीन ढंग के टीकाकारों में विद्यावारिधि पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र, पं० रामेश्वर भट्ट, श्री रामप्रसादशरण, पं० विनायक राव जी, श्री रणबहादुर सिंह, डा० श्यामसुन्दरदास, पं० महावीर मालवीय, श्रीजनक सुताशरण शीतला सहाय सावंत, पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा पं० देवनारायण द्विवेदी आदि सज्जनों के नाम विशेपोल्लेखनीय हैं। नवीन शैली की टीकाओं में से कुछ की विशेपताओं के संबंध में दो-चार शब्द कह देना अप्रासांगिक न होगा। 'मानस' की अधिक से अधिक जानकारी कराने में जितनी उपयोगी श्री जनकसुताशरण-शीतलासहाय सावंत की 'मानस पीयूष' है उतनी अन्य टीका नहीं। इस टीका में टीकाकार ने एक-एक शब्द पर विचार किया है। पहले छन्द का शब्दार्थ दिया है, फिर नीचे पूरे छन्द का सरल और सुबोध भाषा में अर्थ किया है। यही नहीं, इसके फुटनोट और टिप्पणियों में बहुत-सी बातें सन्निविष्ट हैं। कहीं किसी प्रसंग विशेप में अन्यान्य टीकाकारों के विचार उल्लिखित हैं तो कहीं तुलसीदास की ही अन्य रचनाओं से भाव का प्रतिपादन करने के लिए आर्ष ग्रंथों की उक्तियाँ भी नोट में दी गई हैं। अलंकारों का

निर्देश भी जहाँ-तहाँ हैं। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की 'संजीवनी' टीका जन सामान्य में यथेष्ट ख्याति पा चुकी है। टीका भी अच्छी है। छंदों के नीचे सीधा-सादा अर्थ दिया गया है। इसमें क्षेपक भी समादृत हुए हैं। रामेश्वर भट्ट की 'पीयूष धारा' भी क्षेपक युक्त है। ऊपर इंगित अन्य टीकाकारों की टीकाओं में क्षेपक का अभाव है। रणबहादुर सिंह की टीका की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसमें 'मानस' की प्रत्येक पंक्ति को किसी न किसी संस्कृत ग्रंथ की उक्ति से मिलाने का प्रबल आग्रह और जबरदस्त प्रयास है। डा० श्यामसुंदरदास और पं० रामनरेश त्रिपाठी की टीकाओं की बड़ी विशेषताएँ हैं— उनकी भूमिकाएँ। अर्थ करने का ढंग साहित्यिक और सरल है। नवीन शैली के टीकाकारों में पं० विनायकराव की टीका अपना एक निरालापन रखती है। यह कथा-वाचकों के लिए अधिक उपयोगी कही जा सकती है क्यों कि इसमें प्रत्येक प्रसंग पर हिन्दी के अन्य कवियों के छन्द और गाने दिये हुए हैं। प्रत्येक कांड के अन्त में एक 'पुरौनी' दी गई है जिसमें कांडभर की शंकाओं का समाधान तथा अन्य ज्ञातव्य बातें समाविष्ट कर दी गई हैं।

'मानस' के कुछ ही अंशो पर टीका करने वाले टीकाकारों का भी एक अच्छा नवीन वर्ग है। इसके अन्तर्गत प्रयाग बाँध पर के परम हंस नागा बाबा, पं० शिवरत्नशुक्ल, श्रीराजबहादुर लमगोड़ा; पं० विजयानंद त्रिपाठी आदि के नाम आते हैं। पं० वन्दन पाठक तथा पं० रामकुमार जी के टिप्पण, श्रीरामदास गौड़ तथा लाला भगवान्दीन के नोट्स, श्रीवल्लभाशरण जी एवं रामबालकदास जी सदृश महात्माओं की वचनावली आदि भी आंशिक टीकाएँ हैं। अन्य टीकाओं और आंशिक टीकाओं के नामोल्लेख का अवकाश नहीं। प्रायः हिन्दी के जितने भी अच्छे प्रेस हैं सभी ने अपने यहाँ से 'मानस' की कोई न कोई टीका प्रकाशित करने का प्रयास किया है। टीकाओं और आंशिक टीकाओं की चर्चा के उपरांत डा० सूर्यकान्त शास्त्रीका "इन्डेक्स वर्बोरम आव् दी तुलसी रामायन" भी उल्लेखनीय है। यह सूची अपने ढंग की पहली चीज है। आधुनिक अध्ययन की परिपाटी के लिए ऐसे 'इन्डेक्स' की उपयोगिता और उपादेयता सामान्य नहीं। यह सूची 'मानस' के उस संस्करण पर अवलंबित है जिसे 'इंडियन प्रेस' ने प्रकाशित किया और जिस पर डा० श्यामसुंदर की टीका है।

अन्त में इन टीकादि ग्रंथों के महत्त्व के संबंध में इतना तो कहा ही जा सकता है कि ये सब के सब तुलसीदास का प्रभाव तो बताते ही हैं, इसके अतिरिक्त उनके सिद्धान्तों के प्रचार में भी किसी न किसी रूप में सहायक हैं; इनके द्वारा 'मानस' को भली भाँति समझ लेने पर हमारी आलोचनात्मक प्रज्ञा

विशेष सचेत होकर कार्य करती है। यद्यपि प्रत्येक तिलक में कुछ ऐसे भाव भी हैं जो साधारणतः ठीक नहीं जँचते तथापि उनमें उत्तम-उत्तम भावों की भी कमी नहीं हैं। बहुत से ऐसे गूढ़ भाव भी हैं जहाँ तक सामान्य बुद्धि का प्रवेश नहीं। इन टीकाकारों ने विद्यार्थी की तरह ग्रंथ का मनन किया, हमारे लिए छान-बीन करने का मार्ग सरल कर दिया। आए दिन यदि ये विविध टीकाएँ न होतीं तो सम्भवतः हमें 'मानस के सुंदर भावों को समझने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता।

जैसे 'मानस' की अनेकानेक टीकाओं के प्रचलन से हमें गोस्वामी जी का प्रभाव प्रकट होता है वैसे ही उसके सैकड़ों संस्करणों से भी। यहाँ सभी संस्करणों की सूची देना तो व्यर्थ है किंतु उनके फलाफल का किंचित संकेत करना आवश्यक है। विविध संस्करणों के साथ अगणित प्रतियाँ प्रकाशित होती गईं और 'मानस' के पठन-पाठन का क्षेत्र बढ़ता गया। इस प्रकार प्रचार के लिए संस्करणों की भरमार अवश्य लाभकारी हुई पर उसका दुष्परिणाम भी हुआ। विविध संस्करणों में भिन्न-भिन्न पाठों की गड़बड़ी के कारण शुद्धा-शुद्ध पाठों का निर्णय करना भी दुष्कर हो गया। टीका और क्षेपकयुक्त संस्करणों की भूलों की भयावहता तो है ही, यहाँ तक कि मूल पाठ छापने वाले संस्करणों में भो बहुत सी त्रुटियाँ घर किये बैठी हैं। मूल के ही जितने संस्करण निकले हैं उनमें से दो ही चार संस्करण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, उनके पाठ अधिकांश में ठीक हैं क्यों कि उनमें तुलसीदास के लेख-नियमानुसार छापने का प्रयास किया गया है। ऐसे प्रयास करने वाले संस्करण ये हैं— 'का० ना० प्र० सभा' का संस्करण, 'इ० प्रेस' इलहाबाद का संस्करण। यद्यपि इन दोनो में भी परस्पर प्रभेद है तथापि ये दोनों अन्यान्य संस्करणों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हैं। इन दोनों से भी बढ़कर शुद्ध पाठ है उस संस्करण का जिसका सम्पादन रामदास गौड़ ने किया और जो 'हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण के पाठ में नाममात्र की त्रुटियाँ हैं। इधर काशी के श्री विजयानंद त्रिपाठी द्वारा सम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ है जिसमें मूल प्रतियों का आधार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा तो की गई है पर इसमें भी यत्र-तत्र स्वेच्छा-पाठ दिखाई देता है। 'गीता प्रेस' गोरखपुर, का संस्करण भी उल्लेखनीय है। कहने को तो इसमें प्राचीन प्रतियों का आधार रखा गया है और सम्पादन में मनोयोग दिखाया गया है, पर इसका पाठ भी चिंतनीय है। आजकल का० हि० वि० के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के तत्त्वावधान में काशिराज के संग्रहालय में विद्वज्जनों

का एक मंडल मानस की प्राचीन प्रतियों के आधार पर 'मानस' का विशुद्ध संस्करण निकालने की तैयारी कर रहा है। संभवतः यह संस्करण त्रुटियों से शून्य और संतोषप्रद निकले।

व्यास-पद्धति का प्रचलन

अखिल-भारतीय-मानस-सम्मेलन और रामायण-कथा की व्यास-पद्धति आदि का उत्तरोत्तर प्रचार और प्रसार देखकर भी हम गोस्वामी जी के प्रभाव का अनुभव करते हैं। इस समय सामान्यतः रामायण की कथा कहने के आधार पर छोटे-मोटे व्यासों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि उसका अंकन करना कठिन है। फिर भी आज के प्रसिद्ध व्यासों में काशी के पं० विजयानंद त्रिपाठी, आगरा के वच्चूसूर, वृंदावनी 'विन्दु' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'मानस' के अन्यान्य व्यासों का परिचय न देकर हम इसके प्राचीन व्यासों की परंपरा का निर्देश करना अधिक समीचीन समझते हैं। यह परंपरा विशेष रूप में इन पाँच स्थानों से प्रवर्तित हुई—अयोध्या, चित्रकूट, काशी, सरयूतट का वाराह-क्षेत्र एवं गंगातट का सोरों। अयोध्या के 'तुलसीचौरा' पर गोस्वामी जी ने स्वयं व्यास का स्थान ग्रहण किया और संडीले के स्वामी-नंदलालजी तथा मिथिला के स्वामी रूपारुण जी को तुलसीदास के मुख से 'मानस का पाठ सुनने का प्रथम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनमें से एक ने वृंदावन के भक्त रसखान को तीन वर्ष तक कथा सुनाई और दूसरे ने संभलसिंह भूमिहार को वागमती के तट पर। अयोध्या के अतिरिक्त अन्य चारों स्थानों में जो प्रथम व्यास और उनके श्रोता हुए उनके नाम आदि का संकेत मात्र मिलता है†। इन सभी स्थानों से 'मानस' की जितनी शिष्य परंपरायें चलीं उनका पूर्ण परिचय अभी तक नहीं मिला है। हाँ 'मानस' की शिष्य-परंपरा के दो विशेष सम्प्रदायों का कुछ विशेष परिचय उपलब्ध हुआ है। गोस्वामी जी के पश्चात् इन दोनों के आदि व्यास थे—(१) श्री किशोरीदत्त, (२) वूढ़े रामदास जी। इनमें किशोरी दत्त की चौथी पीढ़ी में शिवलाल पाठक प्रसिद्ध रामायणी हुए, इधर वूढ़े रामदास की पाँचवी पीढ़ी में पं० रामगुलाम द्विवेदी काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। रामगुलाम के शिष्यों की दो परंपराएं हो गई थीं, जिनमें एक में लाला छक्कन लाल और दूसरी में वंदन पाठक विशेष यशस्वी हुए। उधर शिवलाल पाठक की परंपरा में श्री शेषदत्त तथा शेष-

† दे० 'कल्याण' मानसाङ्क भाग १ पृ० ६०६ (यह लेख प्रमाण-प्रतिपन्न-नहीं दिखाई पड़ता)

दत्त के शिष्यों में कोदोराम प्रसिद्ध व्यास हुए। इन प्रसिद्ध व्यासों के अतिरिक्त दोनों परंपरा के अन्तर्गत सामान्यतः 'मानस' की शिष्य परंपरा में आने वालों के नामों की तालिका 'कल्याण' के मानसाङ्क भाग १ पृ० ९१०–१२ पर दी गई है। आज कल के व्यासों के सारे जमघट को किसी विशेष परंपरा से जोड़ना युक्ति-युक्त न होकर दुराग्रह मात्र होगा।

तुलसी के नाम पर अनेकानेक रचनाएँ

तुलसी के नाम पर अनेकानेक रचनाओं की वृद्धि भी उनका विशेष प्रभाव सूचित करती है। रचनाओं का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया गया है। इसके अन्तर्गत तुलसीदास के नाम से स्वतंत्र ग्रंथाकार में प्राप्त रचनाएँ ही नहीं अपितु तुलसीदास के ही ग्रंथों में क्षेपक रूप से आनेवाली तथा उन्हीं के नाम से मौखिक रूप से प्रचलित रचनाएँ भी आती हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें उनके नाम से प्रचलित रचनाओं के पहाड़ दिखाई पड़ेंगे।

मनुष्य अपनी दमड़ी की चीज पर भी किसी दूसरे का अधिकार नहीं देखना चाहता। यह कैसी विलक्षण बात है कि कोई स्वयं परिश्रम करके रचना करे और उस पर किसी और की मुहर लगाकर अपने अधिकार से अपना हाथ कटा दे। विचारणीय है कि लोग किस मनोवृत्ति की प्रेरणा से अपनी कृति दूसरे के नाम से व्यक्त कर परितुष्ट होते हैं। यह मनुष्यका स्वभाव है कि वह अपना विकसित स्वरूप देखने के लिए सदैव लालायित और प्रयत्नशील रहता है। छोटे-बड़े सभी चाहते हैं कि हम ऐसे समाज में रहें जहाँ हमारी प्रतिष्ठा बढ़े। सामान्य स्थिति का प्राणी एक विशाल विभवशाली राजा-बाबू का साहचर्य प्राप्त कर अपने को धन्य मानता है और वस्तुतः धन्य हो भी जाता है। ऐसी मनोवृत्ति की प्रेरणा से सामान्य रचना करने की क्षमता रखने वालों ने तुलसीदास के विख्यात नाम का सहारा पकड़ा जिससे उन्हें भी महान् कवियों में गिने जाने का सौभाग्य प्राप्त हो चाहे उन्हें साक्षात् कोई न जाने। इस मनोवृत्ति के परिणाम स्वरूप तुलसी दास के नाम पर कुछ न कुछ रचनाएँ तो अवश्य ही हुई होंगी।

अपने व्यक्तिगत भावों, विचारों और सिद्धान्तों को औरों पर व्यक्त करके उन्हें प्रभावित करने की प्रवृत्ति भी प्रायः मनुष्य मात्र में होती है। पर सभी इसमें सफल नहीं होते। अतः सफलता के लिए मनुष्य छल-छद्म का सहारा लेकर भी कार्य सिद्ध करना चाहता है। वह गधा होते हुए भी शेर की खाल ओढ़कर अपने मनीराम का संतोष करने पर उतारु हो जाता है। तुलसीदास

के नाम का बाधाम्बर ओढ़ कर भी बहुतों ने जाल फैलाए और इस ढंग से भी तुलसीदास के नाम पर कुछ रचनाओं की वृद्धि नहीं रोकी जा सकती थी।

किसी व्यक्ति विशेष में अपनी गहरी श्रद्धा होने के फलस्वरूप भी अपनी सभी वस्तुएँ अपनी श्रद्धा और प्रेम के अनन्य आलम्बन को समर्पित कर हर्ष से गद्‌गद हो उठते हैं। गोस्वामी जी में अपार श्रद्धा रखने वाले कुछ ऐसे महानुभाव भी रहे होंगे जिन्हों ने अपनी कृति को गोस्वामी जी का प्रसाद समझ उसे उन्हीं के नाम से लिपिबद्ध कर दिया होगा।

अनेकों का तुलसी नाम ही रहा होगा। उन्हों ने अपने नाम से रचनाएँ की होंगी। कालान्तर में भ्रमवश लोगों ने तुलसी नामवालों की रचनाओं को तुलसीदास की रचनाओं में सन्निविष्ट कर दिया होगा। ऐसी भूल के कारण भी तुलसीदास के नाम पर कुछ न कुछ रचनाओं का बढ़ना अनिवार्य था।

स्वतंत्र ग्रंथाकार रूप में तुलसीदास के बारह प्रामाणिक ग्रंथों की चर्चा 'तुलसी की कृतियाँ' परिच्छेद में की जा चुकी है। यहाँ तुलसीदास के नाम से प्रचलित अन्यान्य ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है। ऐसा करने के पूर्व इतना और कह देना चाहता हूँ कि आज से करीब अस्सी-पचासीवर्ष पहले जब कि सेंगर जी का 'सरोज' निकला, उस समय तक गोस्वामी जी के नाम से उतनी अधिक रचनाएँ नहीं प्रचलित हुई थीं जितनी आज दिन हैं। उस समय तो प्रामाणिक ग्रंथों के अतिरिक्त निम्नांकित आठ ग्रंथ और थे—

'छन्दावली', 'कुंडलिया रामायण', 'राम सतसई', 'रामशलाका', 'संकट मोचन', रोलाछन्द', 'कड़का छन्द', 'झूलना छन्द'†। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों संख्या भी बढ़ती गई। तभी तो तुलसीदास के नाम से प्रचलित ग्रंथों के संबंध में भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। पं० राम नरेश त्रिपाठी ने इनकी संख्या लगभग चालीस तक पहुँचा दी है। बारहों प्रामाणिक कृतियों के अतिरिक्त उन्हों ने जिन ग्रंथों को गिनाया है उनके नाम ये हैं*—

कुंडलिया रामायण', 'पदावली रामायण','छप्पय रामायण' 'रोलारामायण', 'छन्दावली रामायण', 'झूलना रामायण', 'मंगल रामायण', 'संकट मोचन', 'हनुमान चालीसा', 'राम शलाका', 'तुलसी सतसई', 'कलिधर्म निरूपण', 'बारहमासी', 'अंकावली', 'ध्रुव प्रश्नावली', 'तुलसीदास की बानी', 'ज्ञान

---

† दे० 'सरोज' पृ० ३८६

* ,, 'तुलसीदास और उनकी कविता' पहला भाग पृ० २,३

को परिकरण', 'गीता भाषा', 'सूर्यपुराण', 'ज्ञान दीपिका', 'स्वयंवर', 'राम गीता', 'हनुमान शिक्षा सुक्तावली', 'कृष्ण चरित', 'सगुनावली'।

इन ग्रंथों में से अधिकांश का कोई विशेष महत्त्व नहीं। 'हनुमान चालीसा' का प्रचार सामान्य लोगों के बीच अवश्य कुछ विशेष रूप से अवगत होता है। काव्य सौष्ठव की दृष्टि से भले ही इसका कोई विशेष महत्त्व न हो, पर इसके प्रचार की उपयोगिता तो माननी ही होगी। छोटे-छोटे लड़कों से लेकर बूढ़े तक इसको कंठस्थ किए रहते हैं और बहुधा पाठ करते हुए दिखाई पड़ते हैं। ग्रंथ की विशेषता के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि इसका रचयिता कोई सीधा-सादा हनुमद् भक्त रहा होगा जिसने जन सामान्य के हितार्थ अपनी टूटी-फूटी भाषा में हनुमान की स्तुति निर्मित कर उस पर तुलसीदास के नाम की छाप कदाचित् इस लिए लगा दी कि ग्रंथ का प्रचार विशेष रूप से हो।

'हनुमान चालीसा' के अनन्तर 'कुंडलिया रामायण' की ओर आइए। इसका स्वरूप हिन्दी संसार के समक्ष पहले पहल सन् १९४१ में दृष्टिगत हुआ। इसके पहले हम उसके स्वरूप से अनभिज्ञ थे, हाँ, उसका नाम तो सेंगर जी ने बहुत पहले सुना दिया था। 'सनातन धर्म कालेज' कानपुर, के प्रो० सत्यनारयण पांडे ने अपने जिस अनवरत परिश्रम के द्वारा 'कुंडलिया रामायण' का संपादन किया और उसे हमारे सामने रखा उसके लिए हिन्दी संसार आप का आभारी रहेगा। आपने ग्रंथ में अपनी सारगर्भित भूमिका और ग्रंथ की टीका जोड़कर उसका स्वरूप और भी रुचिकर एवं महत्त्वपूर्ण बना दिया है। तुलसीदास की प्रामाणिक कृतियों से 'कुंडलिया रामायण' के कतिपय स्थलों का भाव-साम्य दिखा कर इसे तुलसीदास-कृत सिद्ध किया है। प्रामाणिक रचनाओं की कथावस्तु, उनकी भाव व्यंजना आदि से भी 'कुंडलिया रामायण' की कथा वस्तु और व्यंजनाओं की तुलना का आग्रह करके इसे तुलसीदास की कृति ठहराया है। इसका रचना काल 'गीतावली' और 'मानस' के बीच माना है।

मैंने 'कुंडलिया रामायण' का अध्ययन इस ध्येय से नहीं किया है कि उसे तर्क-प्रणाली से गोस्वामी जी की कृति सिद्ध करूं। ग्रंथ को मैंने गंभीरता से पढ़ा और गुना। ग्रंथ भर में प्राप्त उसकी एक बड़ी विशेषता देख मैं यही विचार करता हूँ कि क्या गोस्वामी जी की प्रामाणिक रचनाओं में भी कोई ऐसी है जिसमें वे अपनी भावाभिव्यक्ति में उलझे हों; उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में भी यह बात नहीं, प्रौढ़ रचनाओं की तो बात ही न्यारी है। 'कुंड-

लिया रामायण' के जिस किसी दोहे से कुंडलिया आरम्भ होती हो उसी को देखिए—दोहा निष्प्राण-सा दिखाई देगा। बिना अध्याहार के अधिकांश दोहों का अर्थ ही नहीं स्पष्ट होता। क्या गोस्वामी जी के दोहों की यही विशेषता है? 'दोहावली' भी तो ब्रजभाषा में है उसके दोहों को 'कुंडलिया रामायण' के दोहों से मिलाने पर ऐसी प्रतीति होती है कि इन दोनों के प्रणेता भिन्न-भिन्न प्रतिभा के दो व्यक्ति रहे होंगे। यद्यपि 'कुंडलिया रामायण' की पदावली प्राचीनता का द्योतन करने के लिए बहुत कुछ काट-छाँट कर वैयाकरणिक नियमों को ध्यान में रख कर प्रयुक्त हुई है तथापि ग्रंथ की भाषा अर्वाचीन-सी लगती है।

अन्त, में 'कुंडलिया रामायण' के विषय में मैं यही कहना चाहता हूं कि यह किसी ऐसे व्यक्ति की रचना है जो तुलसीदास की रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित था। यही कारण है कि गोस्वामी जी के प्रामाणिक ग्रंथों के भाव इस ग्रंथ में प्रचुर परिमाण में सन्निहित हैं।

'तुलसी सतसई' के संबंध में जो कुछ कहना था उसे 'तुलसी की कृतियाँ' के प्रकरण में पहले ही कह चुका हूं। रही बात तुलसीदास के नाम पर प्रचलित अन्य ग्रंथों की, उनके संबंध में मुझे कुछ नहीं कहना है। मैंने स्वयं उनमें से कई एक को देखा भी नहीं है।

अब तुलसीदास के नाम पर प्रचलित उन रचनाओं को देखिए जो बरसाती पानी की भाँति किसी समय 'मानस' में आकर छिपीं। 'वेंकटेश्वर प्रेस' बंबई, अथवा 'बैजनाथ प्रसाद प्रेस' राजा दरवाजा, बनारस से मुद्रित 'मानस' के संस्करणों में क्षेपकों का आज भी स्थान है। क्षेपकानुरागियों ने 'मानस' के अष्टम कांड (लवकुश कांड) की वृद्धि तो की ही इसके अतिरिक्त वे अन्यकांडों में भी ढेर के ढेर छन्दों और चौपाइयों को मिलाने में न पिछड़े। ये सभी क्षेपक रचनाएँ 'मानस' का अंग बनना चाहती थीं, आज भी सामान्य जानकारी वालों की दृष्टि में ये तुलसीदास की रचनाएँ हैं। इस समय मुझे एक ऐसी ही घटना याद आ रही है। प्रजुएट होने के पूर्व मैंने अपने एक वृद्ध गुरुजन के मुख से सुना था—

"हाथ जोरि लछिमन तब बोले। रघुनायक सों वचन अमोले॥
पग भूषन हौं सकत चिन्हारी। ऊपर कबहुँ न सीय निहारी॥"

इन्हें सुनते ही मेरे कान खड़े हो गए। मैंने पूछा ये चौपाइयाँ कहाँ की हैं? उत्तर मिला तुलसीकृत रामायण की। मैंने कांड पूछा और वृद्ध महोदय ने किष्किंधा कांड देखने को कहा। मैंने धृष्टता की और कहा यह वहाँ नहीं है।

इस पर वे बिगड़ गए। बोले जाकर ध्यान से ढूंढ़ो। अपनी विस्मृति की आशंका कर मैं क्षेपक-रहित 'मानस' के पीछे हाथ धोकर पड़ गया, पन्ना पन्ना ढूढ़ने का प्रयास कई बार किया और अन्त में निराश होकर बैठ गया। इधर जब मैंने गोस्वामी जी को अपने अनुसंधान का विषय बनाया तब यह बात समझ में आई कि उक्त बूढ़े दादा की भाँति कितने ही ऐसे भ्रांत सज्जन होंगे जिन्हों ने क्षेपकों को भी तुलसीकृत मान रखा है। उक्त घटना की ओर संकेत करने का मेरा अभिप्राय यह है कि ऐसी बहुत-सी क्षेपक चौपाइयाँ या छन्द हैं जो धोखे से तुलसी की रचनाओं में प्रविष्ट होने के कारण तुलसी के ही नाम से प्रचलित हो चले हैं।

यहाँ तक तो उन रचनाओं का संकेत किया गया जो तुलसीदास के नाम पर लिपिबद्ध रूप में प्रचलित हैं।अब उन रचनाओं की ओर ध्यान दीजिए जो मँगते गोसाइयों (भरथरियों) के होठों पर नाचती रहती हैं। किसी रमते भरथरी को बुला लीजिए। उसका गान सुनिये। सरंगी की रेंव-रेंव पर वह जितनी तानें भरेगा उनमें प्रायः 'तुलसीदास प्रभु आस चरन की' टेक रहेगी। इन गीतों को सुनकर यदि कोई उन्हें तुलसी की रचनाओं में खोजने लगे तो यह उसका पागलपन नहीं तो क्या?

भरथरियों को छोड़ नापितों की एक विशेष मंडली की ओर दृष्टिपात कीजिए। किसी नाई के यहाँ जब कोई उत्सव पड़ता है तो मंडली के सभी लोग आकर अपने नउआ झूमर (इसे नउआ झाम या नउआ झक) की धूम मचाते हैं। खजड़ी की ताल देकर मंडली नाना प्रकार के भजनों और पदों को मस्त होकर गाती है। इसके इन सभी गीतों पर 'तुलसी' की छाप लगी रहती है। ये गाने हमें तुलसी की रचनाओं में स्वप्न में भी नहीं मिलें गे। ऐसे न जाने और भी कितने लोग हैं जो अपनी तुकबंदी करते जाते हैं और तुलसी सूर या कबीर इन तीनों मेंसे किसी एक की छाप देकर स्वयं फूले नहीं समाते।

वस्तुतः ये मूर्ख तुकबंद भी भली भाँति समझते हैं कि गोस्वामी जी बहुत ही व्यापक और महान् हैं, उनकी छाप के संसर्ग से हमारे टूटे-फूटे शब्दों को भी लोग रुचि से सुनेंगे। तुलसी के नाम पर आए दिन जितनी अधिक रचनाएँ प्रचलित हैं, उन्हें देखते हुए यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तुलसीदास के अपरिमेय प्रभाव के कारण लोगों ने उन्हें अनेकानेक मार्गों से ग्रहण किया है और उत्तरोत्तर ग्रहण करते जा रहे हैं।

आधुनिक विद्वज्जनों की सम्मतियाँ

गोस्वामी जी के संबंध में कुछ आधुनिक विद्वज्जनों की सम्मतियों के आधार पर भी हम उनके प्रभाव का अनुमान कर सकते हैं। सम्मतियों को अविकल रूप से उद्धृत करने के पूर्व यह इंगित कर देना अच्छा होगा कि उनके संक्षिप्त संग्रह में मैंने किस विशेष बात का ध्यान रखा है। अधिकांश कृतिकार ऐसे होते हैं जो किसी वर्ग या सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों या अपने इष्ट-मित्रों की मंडली की ओर से अच्छी सम्मति पाकर अपनी सीमित परिधि में द्वितीय बृहस्पति बनने का दावा करने लगते हैं। ऐसे लोगों को प्राप्त सम्मतियाँ प्रायः एक देशीय होती हैं। अपवाद रूप से कुछ ऐसे महा-प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार भी होते हैं जिनके दिव्यात्मा की प्रखर ज्योति इतनी आकर्षक होती है कि उसके समक्ष आने पर सबको किसी न किसी रूप में नत मस्तक होना पड़ता है। ऐसे कलाकार पर जो सम्मतियाँ प्राप्त होती हैं वे एक देशीयता के क्षुद्र घेरे में कदापि नहीं आतीं। तुलसीदास ऐसे ही कलाकार हैं। उनके 'मानस' में जिसे प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ वह किसी न किसी कारण से उसकी महत्ता स्वीकार किए बिना न रह सका। तभी तो केवल हिन्दुओं के विविध सम्प्रदाय वाले ही नहीं अपितु कुछ मुसल्मानों और अँग्रेजों तक ने अपनी योग्यतानुसार उनकी गुण-गरिमा का गान किया है।

पहले दो-चार पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं। डा० ग्रियर्सन ने तुलसीदास का अच्छा अध्ययन किया था, अतः सर्वप्रथम उनकी सम्मति देखिए—

"भारतवर्ष के इतिहास में तुलसीदास की महत्ता के विषय में इदमित्थं नहीं कहा जा सकता। साहित्यिक दृष्टि से रामायण के गुणों को एक ओर रख कर यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि यह ग्रंथ यहाँ की सर्वजातियों द्वारा अंगीकृत है। पंजाब से भागलपुर तक और हिमालय से नर्मदा पर्यंत उसका प्रभाव है। राज-महल से लेकर झोंपड़ी तक प्रत्येक मनुष्य के हाथों में वह देखी जाती है। और हिन्दू जाति के प्रत्येक वर्ण द्वारा चाहे वह उच्च हो चाहे नीच, धनी हो या निर्धन, युवा हो अथवा वृद्ध एक रूप से पढ़ी-सुनी जाती अथ च आदृत होती है। वह हिन्दू जाति के जीवन, भाषा एवं चरित्र में प्रायः तीन सौ वर्ष से ओत प्रोत है और केवल अपनी कवितागत सुन्दरता के लिए आदर तथा प्रेम नहीं लाभ करती, वरन् यह उनसे पवित्र पुस्तक की भाँति सम्मा-

नित होती है। जिस धर्म का उसने प्रचार किया है वह सादा और उच्च है तथा ईश्वर के नाम के पूर्ण विश्वास पर निर्भर है[१]।"

महोदय लूट्स डड्ले कहते हैं—"तुलसीदास ने अपने स्वामी के नाम का जो हृदय-स्पर्शी गान गाया वह युग-युगान्तर में सुनाई पड़ेगा; इससे प्राच्य जनों की भाँति पाश्चात्य नर-नारी के हृदय में परमात्मानुभूति की क्षुधा बढ़ेगी और जिनके हृदय में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम है वही लोग अनन्य प्रेम को जानेंगे[२]।"

रे० एडविन ग्रीव्ज़ गोस्वामी जी की ओर क्यों खिंचते हैं—

"उनकी अमर कृतियों द्वारा हम उनकी ओर खिंचते ही हैं, परंतु इससे भी अधिक उनके जीवन की सादगी और पवित्रता, उनका पावन व्यक्तित्व हमारे हृदय को, हमारे मन को हठात मोह लेता है[३]।...............हिन्दी काव्य गगन में गोस्वामी जी सूर्य के समान देदीप्यमान् हैं और दूसरे कवि नक्षत्रों के समान हैं। गोस्वामी जी के सरल, सबल और निर्मल जीवन के साथ उनकी कविता की अपूर्व मिठास तथा अद्भुत शक्ति उन्हें सर्वोत्कृष्ट स्थान का अधिकारी बना देती है[४]।

डा० जे० एम० मैक्फी की सम्मति देखिए—

"सर्व-सामान्य हिन्दू-जाति के सर्वोच्च प्रतिनिधि विश्वासों को अभिव्यक्त करने वाला तुलसी के रामायण के अतिरिक्त कदाचित् कोई दूसरा ग्रंथ नहीं[५]। ....तुलसीदास की रचनाओं में मनुष्यरूप भगवान् का परमोच्च और सच्चा आध्यात्मिक स्वरूप पाया जाता है। भारतीय साहित्य में उनका नायक अपना सानी नहीं रखता[६]"।

डा० हाफिज सईद की सम्मति में—रामायण ने हिन्दू संस्कृति की रक्षा ही नहीं की वरं इसने हिंदी भाषा को भी बचा लिया है।............इस बात को कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है कि संसार का कोई धर्म-ग्रंथ इतना लोकप्रिय नहीं हो सका हैं जितना रामायण।...........अद्यावधि हिन्दू जाति

---

१ दे० "वर्नाक्युलर लिचरेचर आव् हिन्दुस्तान" पृ० ४२
२ ,, 'बुक आव् राम—बाइबिल आव् इंडिया'' भूमिका पृ० २२
३ ,, 'कल्याण' मानसाङ्क खंड ३ पृ० १११८
४ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ११२०
५ दे० 'रामायन आव तुलसीदास' भूमिका पृ० ८
६ ,, वही पृ० २५२

की आध्यात्मिक संस्कृति तथा पवित्र और सदाचार-पूर्ण जीवन का अधिकांश श्रेय रामायण के दिव्य सनातन संदेशों को है[1]।

इसी प्रकार अनेकानेक हिन्दू विद्वज्जनों की सम्मतियों को उद्धृत करना मैं इसलिए अनावश्यक समझता हूं कि वे अपनी वस्तु के संबंध में होने के कारण आत्म-स्तुति की कोटि में ही आ जाएँगी। गोस्वामी जी हमारे हैं, उनकी कृतियाँ हमारे रत्नकोश के अमूल्य रत्न हैं।

अपनी श्रद्धाञ्जलि

कुछ प्रतिष्ठित एवं प्रामाणिक सम्मतियों की ओर संकेत करने के पश्चात्, मैं अपनी कोई सम्मति देने का दुस्साहस तो नहीं कर सकता, पर आर्य शिरोमणि बाबा तुलसीदास के चरणों की वंदना करने की अपनी लालसा मैं भी टूटे-फूटे शब्दों में व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता। लोक इसे मेरी सम्मति ही क्यों न समझे पर है यह मेरी श्रद्धाञ्जलि[2]।

विधाता! तेरी लीला धन्य है। तूने तुलसीदास को अकिंचन कुल में उत्पन्न ही नहीं किया अपितु बाल्य-काल में ही अनाथ भी बना दिया पर ऐसा करके भी अन्त में उनको इतना महान् भी कर दिया कि उनकी तुलना के लिए कोई उपमान नहीं मिलता। किसी बड़े सम्राट् से उनकी समता करना व्यर्थ है क्यों कि सम्राट् तो स्थूल शक्ति से बाह्य शासन करता है, परंतु तुलसीदास लोगों के हृदय के शासक हैं; किसी जगद्विख्यात कवि से उनकी तुलना इसलिए नहीं फबती कि उनकी साधुता महान् से महान् कवि में नहीं; कोई बड़ा साधक भी उनकी बराबरी इसलिए नहीं कर सकता कि उसमें तुलसीदास की अलौकिक कवित्व शक्ति एवं भव्य काव्य-निर्माण के अन्य श्रील उपादान नहीं। ऐसे अनुपमेय तुलसीदास के प्रति जो श्रद्धा जो भक्ति, जो पूज्य बुद्धि हमारे भीतर है वह शब्दों के द्वारा इस लघु श्रद्धाञ्जलि में भले ही हम व्यक्त न कर सकें, पर वह उनसे छिपी न होगी।

हे हिन्दूजाति के उद्धारक तुलसी! तुम्हारी पैनी दृष्टि ने अपने सामायिक हिन्दूसमाज के पतन का अंग-प्रत्यंग देखा—तुम्हें स्पष्टतः ज्ञात हो गया कि कराल काल के प्रवाह में पड़ कर दीर्घ संस्कृति—परंपरा से टूट कर विच्छिन्न होती हुई, अपने प्रकृत स्वरूप और प्राचीन गौरव का क्रमशः विस्मरण करती

१ „ 'कल्याण' 'मानसाङ्क' खड २ पृ० १०५६

२ प्रस्तुत श्रद्धाञ्जलि में सँजोए विचार-कुसुमों के कुछ सूत्रों का विशेष मर्म समझने के लिए "तुलसी और उनका युग" का परिशीलन कीजिए।

हुई—तुम्हारी हिन्दूजाति क्षिप्र गति से विनाशोन्मुख है। यह दृश्य देख तुम कलेजा थाम कर बैठ नहीं गये प्रत्युत तुम्हारा विश्व-हितैषी हृदय जग पड़ा; तुमने समाज के दंभ और पाखंडयुक्त व्यवहारों एवं अनाचारों का भंडाफोड़ करते हुए उसकी कड़ी आलोचना ही नहीं की अपितु उसे सन्मार्ग बताने के लिए अद्वितीय सामाजिक मत भी रमणीय ढंग से स्वर्णाक्षरों में अंकित किया।

हे समाज-विधायक तुलसी! तुमने समाजोन्नति के लिए आदर्श सामाजिक मत का निरूपण ही नहीं किया, अपितु परम पुरुषार्थ के उच्चतम साधन भक्ति को भी सर्व-जन-सुलभ कराने के हेतु प्राचीन आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट भक्ति के विविध स्वरूपों एवं उसके सिद्धांतों का सजीव मनोरम चित्र भी उपस्थित किया साथ ही ज्ञान, वैराग्य, योगादि का अपेक्षित महत्त्व भी हस्तामलक कराया। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि के अक्षुण्ण भंडार का द्वारोन्मुक्त करने के लिये अपना कलेजा निकाल कर रखने वाले तुम धन्य हो।

रामोपासना के प्रतीक! तुम भक्ति के सिद्धान्तों को व्यक्त करके ही चुप साधने वाले नहीं थे; तुम्हारी निराली उपासना पद्धति भी थी; तुम्हारे उपास्य का सानी अन्यत्र कहाँ; तुम्हारी विचारानुमोदित आचार-प्राण उपासना-पद्धति की समता में कौन-सी दूसरी पद्धति टिक सकती है? तुम किसी नवीन उपासना-पद्धति के प्रवर्तक न होते हुए भी रामोपासना के अद्वितीय प्रचारक और पैगम्बर हो; तुम्हारे चरणों में कौन-सा रामभक्त नतमस्तक नहीं होगा?

अपने इष्टदेव की उपासना के निरन्तर सात्त्विक सहयोग से अपनी तत्त्व-चिंतन-शक्ति को समत्व के दिव्यासन पर अधिष्ठित करने वाले तुलसी! तुम्हारा तात्त्विक दृष्टिकोण धन्य है। तुमने वेदान्त की सभी उदात्त पद्धतियों का ऐसा समन्वय दिखाया है कि उसका वर्णन करना सरल नहीं। तुम्हारे दार्शनिक विचारों का अद्वितीय समन्वय देखते हुए तुम्हें किसी सम्प्रदाय विशेष का कहना, तुम्हारी व्यापकता को संकुचित करना है। पर, तुम्हारी 'भेद भक्ति' की मार्मिक मधुरिमा का अनुभव करने पर हृदय को तुम्हारी द्वैत-प्रणाली ही जँचती है।

प्रत्येक सम्प्रदाय के सात्त्विक और आचारयुक्त स्वरूप के प्रति आदर एवं सत्कार की उच्च भावना रखने वाले, विकृत और संकीर्ण साम्प्रदायिकता के क्षुद्र पाश में न आवद्ध होनेवाले तुलसी! तुम्हारे व्यापक दृष्टिकोण की परिधि असीम है, तभी तो हिन्दू धर्म के सभी प्रधान सम्प्रदायों की अन्तरात्मा तुम में विद्यमान् है। तुम सभी सम्प्रदायों के आदर और सत्कार के भाजन हो।

जो प्राचीन आर्य धर्म कालचक्र में पड़कर कर्मकांड की दुष्करता के कारण

अपने अनुयायियों को भारभूत प्रतीत होकर अस्त होने लगा था, उसमें राम-नाम की एक नवीन ज्योति फैला कर उसे फिर से नव प्रकाशयुक्त करने वाले तुलसी! तुमने धर्म को अन्धकारावृत रहस्यवाद, निष्प्राण बाह्याडम्बर और अज्ञानमूलक भूत-प्रेत-पूजा आदि के पंक से निकाल कर शुद्ध नैतिक, भाविक एवं बौद्धिक आधार पर प्रतिष्ठित कर उस पर सर्वसामान्य का अधिकार जताया; तुम्हारे रोम-रोम में परम सात्विक वैष्णव की विश्व-जनीन करुणा संचरित होती थी, इसी से तुमने अहिंसा को ही अपने धर्म का परमोच्च लक्ष्य माना।

हे अप्रतिम सन्त! तुम स्वयं उच्चकोटि के साधक, साधु होने के कारण सच्चे संतों की लोकोत्तर भावनाओं और उनके अपरिमित त्याग के उत्तराधिकारी थे; तुम्हारी संत-भावना की कसौटी पर ठहरने वाले सन्त विरल ही होंगे। जो होंगे वे तुम्हारी ही भाँति विश्व-हितैषी होंगे। तुम्हारे संत-मत का अनुयायी अपने साधु-मत का लोकमत से कहीं विरोध होने पर लोकहित के लिए लोकमत को ही श्रेय देता।

प्राचीन राम साहित्य के अगाध रत्नाकर से अनन्त रामकथा के मणि-माणिक्य निकालने वाले तुलसी! तुम्हारी मननशीलता अपार थी; तुमने रामकथा संबंधी प्रायः सभी आर्ष ग्रंथों का पूर्ण मन्थन किया। तभी तो तुम्हारे राम साहित्य में बाल्मीकीय, अध्यात्म, महारामायण प्रभृति रामायणों, संस्कृत के महाकाव्यों और नाटकों के प्रभाव आदि स्पष्टतया अवगत होते हैं।

संदर्भण कला में परम प्रवीण तुलसी! तुम्हारी संदर्भण कला की जो पटुता 'मानस' में दीप्त होती है उस पर कौन नहीं तृण तोड़ता; तुम्हारे 'मानस' के उपक्रम और उपसंहार, उसकी षडविध संगति-योजना, उसके श्रुति-स्मृति, पुराणादि पुष्पों से संगृहीत मधुकोश, उसकी भावानुरू शैली, उसकी प्रबंधानुरूप छंद-योजना आदि तुम्हें कलाकारों का मुर्धाभिषिक्त सम्राट् ठहराते हैं।

हे काव्य-गगन के सूर्य तुलसीदास! तुमने अपने अमर आलोक से हिन्दी साहित्य-लोक को सर्वभावेन देदीप्यमान् किया, काव्य के विविध स्वरूपों तथा शैलियों को विशेष प्रोत्साहन देकर भाषा को खूब सँवारा और शब्द-शक्तियों, ध्वनियों एवं अलंकारों के यथोचित प्रयोगों के द्वारा अर्थ-क्षेत्र का अपूर्व विस्तार भी किया; तुम्हारा बाह्य दृश्यों का सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण, तुम्हारी आभ्यन्तरिक वृत्तियों की अद्वितीय अनुभूति प्रवणता आदि सभी आदर्श हैं; तुम्हारी कृतियों में लोक-व्यवहार-निपुणता एवं सद्ग्राहिता का मणि-कांचन-योग भी देखते ही बनता है; तुम्हारे सौन्दर्य-बोध, मात्रा-बोध और प्रातिभ

ज्ञान की संसृष्टि भी अनुपम है; तुम्हारी रचनाओं में श्लीलता का पूर्ण परिपाक है और तुम्हारा काव्य मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता; तुम्हारी साहित्यिक देन भव्य कोटि का काव्य होते हुए भी उच्चकोटि का शास्त्र है; तुम्हारी विशाल कवित्व शक्ति एवं तुम्हारी उच्चतम साधुता का अपूर्व संयोग सब प्रकार से पूज्य है।

हे अमित प्रभाव वाले तुलसी! तुम्हारे प्रभाव की दिशाएँ अनेक हैं। सभी दिशाओं में प्रधान रूप से तुम्हारा प्रभाव प्रतिष्ठित करने वाला है—'मानस' का पवित्र आभास और उसका उदात्त स्वरूप। तुम अपने जीवन-काल में ही 'महामुनि' (बाल्मीकि) के अवतार माने गए। यह तुम्हारा प्रभाव नहीं तो क्या। आज तुम्हारा परवर्ती समाज भी तुम्हारे निर्दिष्ट मार्ग को सहज और श्रेयस्कर मानता है। सनातन धर्म में आस्था रखने वालों की दृष्टि में तो तुम सर्व प्रकारेण वंदनीय ही हो, इसके अतिरिक्त 'मानस' को 'गपोड़' कहने वाले समाजी भी यह कहने के लिए विवश हैं—"तुलसीदास की रसीली कविता से देश में देवनागरी अक्षरों का प्रचार सर्वसाधारण के मध्य प्रशंसा योग्य हुआ है।···रामायण के निर्माण का मुख्य प्रयोजन पितृ-भक्ति, भ्रातृ-स्नेह, दाम्पत्य-धर्म, प्रजा-ममत्व, देशाभिमान और पुरुषार्थ था।"

हिन्दी साहित्य में आज भी 'साकेत' 'वैदेही वनवास' आदि का प्रणयन होते देख हम अनुभव करते हैं कि इन ग्रंथों के मूल में तुलसीदास की ही प्रेरणा है। यह तुलसीदास का ही पभाव है कि आये दिन भी रामलीलाओं के मनोरम अभिनय बड़े उत्साह के साथ होते हैं; रामायण की व्यास-पद्धति का आज भी महत्वपूर्ण स्थान है; रामायण की विविध टीकाओं की वृद्धि आज भी हो रही है; तुलसीदास के प्रभावशाली नाम पर भी रचनाओं का विकास जारी है।

आलोचकों को भी आलोक प्रदान करने वाले तुलसीदास का यह भी विशेष प्रभाव नहीं तो क्या कि आज उनके जितने आलोचक हैं उतने किसी अन्य हिन्दी महाकवि के नहीं। ऐसे प्रभुविष्णु संत और महाकवि के प्रभाव की छत्रच्छाया में विश्राम पाकर श्रद्धा और सत्कार, स्नेह और सौमनस्य, सम्भ्रम और सम्मान के दो चार कुसुम लेकर उनकी अर्चना के लिए उपस्थित हुआ हूँ। वे हमारी आँखोंमें समाये हैं उनकी प्रशंसा, आशंसा अथवा अभिनंदन में जो कुछ कहा जाय थोड़ा है।

———

तुलसी के प्रमुख संदेश

आदर्श की स्थापना

हमारा समस्त वाग्विसर्ग सामान्यतया हमारे किसी न किसी मन्तव्य विशेष का द्योतक होता है। यदि ऐसा न होता तो हमारे अभिलाप और उन्मत्त के प्रलाप दोनों ही भेद-शून्य माने जाते। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे सामान्य दैनिक जीवन की बातचीत भी किञ्चित उद्देश्य से हुआ करती है। इसके अतिरिक्त, यदि हम विशेष अवसरों पर किये गए अलंकृत सम्भाषणों को देखते हैं तो उनमें भी किसी मन्तव्य विशेष का प्रतिपादन रहता है। भारती के प्रसाद से वाग्मी प्रवक्ता अपनी वक्तृता का मधुर स्रोत भले ही व्यापकता से प्रवाहित करता रहे और श्रोतागण उसके प्रत्येक शब्द पर मुग्ध होते रहें पर वक्ता के विस्तृत कथन का सार या संदेश इतना सूक्ष्म होता है कि वह उसे कुछ ही शब्दों में समाप्त कर सकता है। वस्तुतः वह वैसा करता नहीं। क्यों कि उसे श्रोताओं पर अपना स्थायी प्रभाव जमाने के लिए उत्तमोत्तम उक्तियों और तर्कों का आश्रय लेकर चलना पड़ता है; ऐसा करते हुए भी वह अपनी वक्तृता को अपने उद्देश्य की दीप्ति से इस प्रकार अनुप्राणित रखता है कि श्रोतागण सहज में ही उसे हृदयंगम कर लें। वक्ता की मनोहर वक्तृता की भाँति कलाकार की मनोज्ञ कृतियाँ भी उसके उद्देश्य से अनुप्राणित रहती हैं। कोई महान् कृतिकार ऐसा नहीं होगा जिसकी कृति निरुद्देश्य कही जा सके। यह दूसरी बात है कि कलाकारों के व्यक्तित्व-वैभिन्य के कारण उनके उद्देश्य में अन्तर हो, पर इतना तो निर्विवाद है कि प्रत्येक कलाकार किसी प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाना प्रकार की सरस योजनाएँ करता है। फलतः उद्देश्य की पूर्ति के साफल्य या वैफल्य के आधार पर भी वह सफल अथवा विफल कहा जा सकता है। अस्तु, कृतिकार के यथार्थ मूल्याङ्कन में उसके संदेश का विश्लेषण और उसका प्रभाव-निदर्शन भी नवीन आलोचना-प्रणाली का मुख्य अंग है। अतएव उसका उद्घाटन भी भावक का प्रधान कर्तव्य है।

कृतिकार का संदेश जितना ही व्यापक एवं उदात्त हो उसकी सार्वभौमिकता उतनी ही अधिक होती है। जिस संदेश में मानवीय विभूतियों की भव्य

ज्योति प्रस्फुटित होती है और जिसका सहज प्रकाश हृदय के अन्तराल में स्वयमेव प्रवेश करता है, निस्संदेह, वह संदेश कृतिकार को उच्चासन पर प्रतिष्ठित करेगा। इस संबंध में तुलसीदास की यह उक्ति सर्वथा स्मरणीय है—

"कीरति भनिति भूति भली सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥"

जब हमारी दृष्टि तुलसीदास की आदर्श-प्रतिष्ठा की ओर जाती है तो सर्वप्रथम हमें डंके की चोट कहना पड़ता है कि उनके आदर्श का पाश्चात्य आदर्शवाद से कोई संबंध नहीं। यूनानी पंडित प्लेटो तथा जर्मनी के कांत, शीलर, हेगल प्रभृति विद्वानों का 'आदर्श' केवल भावना-लोक की वस्तु है। इसके विपरीत संसार में जिसकी वास्तविक सत्ता है उसे 'यथार्थ' कहते हैं। उनकी दृष्टि में राम का आदर्श चरित वह चरित समझा जायगा जो व्यावहारिक रूप में कभी राम में विद्यमान् न था पर राम के भक्तों और उपासकों ने राम में उसकी सत्ता की आशंसा मात्र की है। आचार प्रधान भारतीय जीवन ऐसा कुछ जगद्विलक्षण रहा है कि उसकी व्यावहारिकता से संदेह हो जाना स्वाभाविक है। गोस्वामी जी ने अपने चरित-नायक का जो चित्रण किया है उसे भारतीय दृष्टि से यथार्थ ही मानना चाहिए। तभी हम उसका अनुकरण करके उद्धार पाते हैं। अतः राम का जीवन हम सामान्य जीवों के लिए भले ही आदर्श हो, पर है वह यथार्थ ही।

तुलसीदास ने जो निदर्शन, नमूना या आदर्श दिखाया है वह प्रत्यक्ष रूप में कार्यान्वित होने वाला पदार्थ है न कि कल्पना लोक में टिकी हुई अचरितार्थ वस्तु। वह काल की गति-विधि के साथ परिवर्तित होने वाला नहीं प्रत्युत सर्वकाल के लिए सत्य, शाश्वत और पूर्ण है। अनुकरण और अनुवर्तन का अनन्य लक्ष्य है। श्री कृष्ण ने कहा है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥" 'गीता' ३।२१

उद्धरण प्रमाणित करता है कि आदर्श कोई खयाली पोलाव नहीं है। वह सर्वदेश और सर्वकाल के लिए अनुवर्तन की वस्तु है। आदर्श-पथा-रूढ़ अभ्युदयोन्मुख होता है और आदर्श-पथ-भ्रष्ट का पतनोन्मुख होना अनिवार्य है।

तुलसीदास ने अपने सामयिक समाज की विश्रृंखलताओं, उच्छृंखलताओं और गर्हित आचार-विचारों की खर बाहिनी बरसाती नदी की गति पलट देने, पतनोन्मुख भारतीय मर्यादा की पुनर्स्थापना करने तथा पूर्ण मानवता का शाश्वत स्वरूप दृष्टिगत कराने के हेतु राम को ही सर्वोत्कृष्ट आदर्श समझा।

उनकी दूरदर्शिता ने उन्हें सम्यक् प्रकार से सुझा दिया था कि अन्यान्य सुधारकों की भाँति समाज के छिद्रान्वेषण करने मात्र से सुधार नहीं होगा प्रत्युत समाज के सभी अङ्गोपाङ्गों को रमणीय से रमणीय नमूना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर कराने की नितान्त आवश्यकता थी। फलतः उन्हों ने सामाजिक पतन देख अपने हृदयोद्गारों की अभिव्यक्ति करते हुए लोगों के समक्ष अपनी अनोखी काव्य-प्रणाली के द्वारा सर्वसामान्य की भाषा में कृतिसाध्य आदर्श उपस्थित किये।

राज-राज-मौलि रामचन्द्र के चरित्र से जिन राजकीय चारित्रिक विभूतियों की प्रतिष्ठा हुई, वे आदर्श हैं। वे किसी विशेष देश, काल या जाति के राजाओं के अनुकरण की वस्तु न होकर सर्वदेश, सर्वकाल और सर्वजाति के भूपाल-मणियों की कार्यरूप में परिणत होने वाली विशेषताएँ हैं। यह दूसरी बात है कि कर्तव्य विमुख राजकीय सत्ताएँ उन्हें कार्यान्वित न करें। वह प्रजा-वत्सल राजा जो प्रजा की सर्वाङ्गीण उन्नति के उपायों की योजना में अहर्निश दत्तचित्त रहता है, उसे अपने प्राणों से बढ़कर मानता है और उसकी सुख-शांति के लिए अपने भारी से भारी सुखों का उत्सर्ग करता है—धन्य है। नृपति रूप में राम ऐसे ही नृपति हैं। राम का अनुकरण करने वाले सभी राजाओं का राज्य राम-राज्य है।

राम राजा हैं फलतः उनका अनुकरण केवल राजाओं के लिए श्रेयस्कर हो ऐसी बात नहीं। वस्तुतः तुलसीदास ने राम तथा अन्य सभी उन्नायक पात्रों के जो आदर्श उपस्थित किए हैं वे राजा, रंक, फकीर सब के लिए अनुवर्तनीय हैं। वे आदर्श ऐसे नहीं हैं जिन्हें उन्हों ने सामान्य जीवन और सामान्य जन के स्तर से पृथक् दिखाया हो। मानव जीवन सुख-दुख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सुअवसर-कुअवसर, मिलन-वियोग आदि से घिरा हुआ है। ऐसे द्वंद्वमय जीवन में भी मनुष्य की जीवन-धारा कैसी हो, उसका लक्ष्य कैसा हो, उसका जागतिक संबंध-निर्वाह क्यों कर चले, वह किन चारित्रिक विशेषताओं के द्वारा उत्तरोत्तर अभ्युदयोन्मुख होता रहे और किस प्रकार संकुचित स्वार्थ-परता का पाश तोड़ कर जीवन के संघर्षों से ऊपर उठकर अन्त में विश्राम पाए—इन सभी के आदर्श तुलसीदास ने उपस्थित किए हैं।

भक्ति की सार्वभौमिकता

तुलसीदास ने जैसे सर्वदेशीय और व्यापक आदर्श का संदेश सुनाया है वैसे ही भक्ति का सार्वभौमिक स्वरूप भी दिखाया है। किसी तथ्य की

सार्वभौमिकता की पहचान यह है कि वह एक देशीयता की क्षुद्र शृंखला में आबद्ध न हो सके। अर्थात् सार्वभौमिक कहलाने का महत्त्व उसी सिद्धान्त को प्राप्त हो सकता है जो स्वयं किसी देश, काल या जाति विशेष की बपौती न होकर सर्वदा और सर्वथा सारे संसार को अपनी परिधि में अन्तर्भुक्त किए रहता है। जिस वस्तु पर प्राणिमात्र का अधिकार हो वह सार्वभौमिक नहीं तो क्या? भक्ति के विषय में गोस्वामीजी की धारणा है कि वह (भक्ति) भूतमात्र की निधि है और उस पर सभी का स्वत्व है।

यों तो गोस्वामी जी उद्भट मर्यादावादी और वर्णाश्रमधर्म के पक्के समर्थक थे, पर वे उस सिद्धान्त को मानने वाले नहीं थे जिसके अनुसार भक्ति के अधिकारी केवल द्विजाति वर्ण के ही हों; उनके मत में तो स्ववर्णोचित कर्म में निरत सभी वर्ण के लोग भक्ति में संलग्न हो सकते हैं। अपनी इसी विचार-धारा के अनुसार उन्हों ने निम्नतम तथा उच्चतम दोनों वर्ण वालों को भक्तों की एक ही श्रेणी में बिठाया है। उनकी रचनाओं में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता कि ब्राह्मण वंशीय ब्रह्मर्षि वशिष्ठ अथवा उन्हीं के समकक्ष कोई ब्रह्मर्षि या राजर्षि ही भक्ति के अधिकारी हैं और निम्नवर्णोत्पन्न निषाद, शबरी, कोल, किरात अथवा अन्यान्य असभ्य वनचारी भक्ति के अधिकारी नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो उनकी भक्ति की सार्वभौमिकता पर अंगुलि निर्देश किया जा सकता था।

यदि कोई शंका करे कि तुलसीदास की दृष्टि में चारों वर्ण के सभी प्राणी भक्ति के अधिकारी हैं पर इसके आधार पर, यह कैसे कहा जा सकता है कि उन्हों ने भक्ति का अधिकारी उन लोगों को भी ठहराया है जो हमारी वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं आते। ऐसे संदेह की भी गुञ्जाइश नहीं। देखिए, यवनादि भी भक्ति के प्रताप से तर गए—

'आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे।
कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं..................।"

'मानस' उ० १२९·११.१२

'स्वपच, खल, भिल्ल, जमनादि हरिलोक गत,
नामबल विपुल मति मल न परसी।'

'विनय०' पद ४६

भक्ति की सार्वभौमिकता का प्रमाण इससे बढ़ कर क्या होगा। वस्तुतः यह वह राजमार्ग है जिस पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या कोई भी चले

किसी के लिए प्रतिषेध नहीं। जो कोई इस मार्ग पर चलेगा वही पावन गति पाएगा। यही तुलसीदास का दिव्य संदेश है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। तुलसीदास जी भारत को परम पवित्र भूमि मानते थे साथ ही वर्णाश्रम धर्म के पूर्ण पोषक होने के कारण वे ब्राह्मण कुल को भी धन्य समझते थे, पर इसके साथ उनका ऐसा कोई विचार नहीं प्रकट होता कि अन्यान्य देश या अन्यान्य कुल अपकृष्ट हैं। लंका में रहने वाला निशाचर कुलोत्पन्न विभीषण भी उन्हें परम भक्त के रूप में आदरणीय था। इससे भी उनकी भक्ति की सार्वभौमिकता प्रकट होती है। शंकर सदृश परम भक्त के मुखारविंद से कथित यह उक्ति भी स्मरणीय है—

'सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुवीर परायन जेहि नर उपज विनीत॥'

'मानस' उ० १२७.

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी कुल विशेष का भक्ति पर एकाधिकार नहीं। तुलसीदास के विचार से किसी भी कुल में उत्पन्न व्यक्ति भक्ति-परायण हो सकता है और जिस किसी कुल में भक्ति-सम्पन्न भक्त का जन्म हो वही वंदनीय है।

भक्ति की सार्वभौमिकता एक दूसरी दृष्टि से भी विचारणीय है। भगवान् कृष्ण का कथन है कि कोई कितना बड़ा दुराचारी हो क्यों न हो, परन्तु, अन्तकाल में यदि वह भी अनन्य भाव से मेरी शरण में जाता है तो मैं उसे नहीं भूलता[1]। महात्मा बुद्ध का भी ऐसा ही मत है—(दे० मिलिन्द प्रश्न. ३.७.२)। बौद्ध-धर्म-ग्रंथों में ऐसी कथाएँ हैं कि तथागत ने आम्रपाली नामक वेश्या और अंगुलीमाल नामक चोर को दीक्षा दी थी। ईसाइयों के धर्म-ग्रंथ में भी वर्णित है कि क्राइस्ट के साथ जो दो चोर सूली पर चढ़ाए गए थे उनमें से एक चोर मृत्यु के समय क्राइस्ट की शरण में गया और क्राइस्ट ने उसे सद्गति दी[2]। क्राइस्ट ने स्वयं भी कहा है कि हमारे धर्म में श्रद्धा रखने वाली वेश्याएँ भी मुक्त हो जाती हैं[3]। अस्तु।

इधर हमारे संत तुलसीदास ने गणिका और अजामिल की नजीरों को बार-बार इसीलिए पेश किया है कि बड़े से बड़ा पातकी भी निराश न हो,

---

(१) 'गीता' ६।३०; ८.५–८
(२) ल्यूक २३. ४२ और ४३
(३) मेथ्यू. २१. ३१; ल्यूक ७.५०;

प्रत्युत उसमें आशा का संचार हो कि वह भी अपने इसी जीवन में अनन्य भक्ति के द्वारा परम विश्राम प्राप्त कर सकता है। इसी तथ्य को निरूपित करने के लिए तुलसीदास ने श्रीमुख से कहलाया है--

"कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सन्मुख होई जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।"

× × ×

'मानस' सु० ४३.१,२

और भी देखिए—

'कैसेउ पाँवर पातकी जेहि लही नाम की ओट।
गाँठी बाध्यो राम सो परिख्यो न फेरि खर-खोट॥"

इससे स्पष्ट है कि बड़े से बड़ा पातकी भी भक्ति से वञ्चित नहीं किया गया है घोर पापाचारी भी यदि अनन्य भाव से परमात्मा की शरण ढूँढ़ेगा तो उसका भी निस्तार अवश्य होगा, क्योंकि—

"सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा॥"

'मानस' सु० ३८.७

उपर्युक्त सिद्धान्त शाश्वतः निर्विवाद है अतः इस पर गोस्वामी जी के सदृश परम भागवत रंच मात्र भी भ्रम नहीं उत्पन्न करा सकता था, पर हम स्वयं कह सकते हैं कि जिसका सारा जीवन दुराचरण में ही समाप्त हुआ होगा उसके अन्तः करण में भगवान् की शरण में जाने का विचार ही क्यों आएगा? अपवाद रूप से किसी अज्ञात विलक्षण कारण से आ भी सकता है। जो कुछ भी हो, भक्ति का नितान्त सार्वभौमिक स्वरूप यही कहना चाहिए कि अपने कर्मों में प्रवृत्त कोई प्राणी भगवत्प्रेम का नियम पूर्वक पालन करे। भरत-सदृश प्रिय सखा निषाद को रामने यही रहस्य समझा कर विदा किया था—

"जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन-क्रम-बचन धरम अनुसरेहू॥"

'मानस' उ० १९.२

अपने परम प्रिय मर्कट सेवकों की विदाई के अवसर पर भगवान् ने उन्हें भी यही सार्वभौमिक तत्त्व बताया था—

"अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहिं दृढ़ नेम।
सदा सरब गत सरब हित, जानि करेहु अति प्रेम॥"

'मानस' उ० १६.

मानवता का प्रस्थापन एवं दानवता का निर्वासन

भक्ति का सार्वभौमिक स्वरूप दिखाकर तुलसीदास ने जैसे प्रत्येक प्राणी के लिए आध्यात्मिक उन्नति का राजमार्ग दिखाया वैसे ही उन्हों ने मानवता का प्रशस्त पथ भी सुझाया है। आज भौतिकवादी पाश्चात्य जगत् भी मानवता का पल्ला पकड़ कर विश्व-शांति की स्थापना करने के लिए कितना उत्सुक है इसका अनुमान उसके 'युनिवर्सल ब्रदर-हुड' और 'ह्यु मेनिटेरियनिज्म' आदि सिद्धांतों के प्रचार के लिए किए गए प्रयत्नों से किया जा सकता है। संसार भर में विग्रह, संघर्ष और संग्राम का भीषण चीत्कार देखते हुए आज विवश होकर बड़े बड़े समाज-सुधारकों, नागरिक-शास्त्र-वेत्ताओं, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों तक की प्रवृत्ति इस ओर झुकी है कि विश्व में शांति हो सदाचार प्रतिपत्ति हो, लोकहित निष्ठा के साथ सारा संसार एक सूत्र में संग्रथित होकर सच्चे सुख शांति का अनुभव करे। ऐसी सुख-शांति के मार्ग बताने और मानवता की प्रतिष्ठा कराने के लिए पूर्व और पश्चिम दोनों ओर से न जाने कितने 'लेक्चर्स' 'आर्टिकल्स्' और 'वर्क्स' निकले, निकल रहे हैं और निकलते जाएँगे। इन प्रयासों के परिणाम-स्वरूप मानवता की जो कुछ रक्षा हुई, हो रही अथवा होगी, वह स्तुत्य है।

मानवता की रक्षाका दायित्व कलाकारोंपर भी सदासे रहा और निरंतर रहेगा। कुछ अपवादों को छोड़ कर प्राय: सभी कलाकारों में मानव-धर्म के प्राकट्य की ही प्रबल चेष्टा दिखाई पड़ती है। मानवता की अभिव्यक्ति में कला ने जैसा साफल्य प्राप्त किया और मानवता को प्रकट करने की उसमें जो प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है, वह आश्चर्य-जनक है। इसका कारण यही समझ पड़ता है कि मनुष्येतर जगत् में रजोगुण एवं तमोगुण के प्राबल्य के कारण आत्म-प्रकाश स्फुट नहीं है। मनुष्य से नीचे की श्रेणियों में माया का पर्दा बहुत ही घना है, फलत: कला विशारदों को उनके द्वारा सत्य को-आत्म-ज्योति को प्रकट करने में बड़ा प्रयास करना पड़ता है, पर मनुष्य में सत्त्वगुण का विकास होने के परिणाम-स्वरूप यहाँ आत्म-ज्योति स्वत: फूट पड़ती है। मानव-हृदय में आत्म-प्रतिबिंब कुछ अधिक स्फुट होता है अतः उसके प्राकट्य में कलाकार को विशेष कठिनाई नहीं पड़ती। स्वयं मनुष्य होने के नाते भी उसे स्वभावतः मानवता के प्रकट करने में विशेष आनन्द आता है और वह अपनी सारी शक्ति लगा कर मानवधर्म एवं मानव-कार्य का चित्रण करता है।

मानवता के आधार मानव की किञ्चित चर्चा भी अप्रासांगिक न होगी।

मनुष्य समाज में रहता है और समाज मनुष्यों से मिलकर बना है। दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है। हम कह सकते हैं कि यदि समाज के सभी लोग सौन्दर्यमय दिव्य जीवन बिताना जान लें तो समाज सुखी रहेगा। पक्षान्तर में यदि समाज का संघटन ऐसे आध्यात्मिक और मानवीय नियमों के आधार पर किया जाए जिन पर सौन्दर्य बोध और तज्जन्य आनन्द निर्भर करता है तो समाज में रहने वालों का जीवन सौन्दर्यमय अतएव आनन्दमय हो सकता है।

गोस्वामी जी ने व्यष्टि और समष्टि दोनों के कल्याण का मार्ग बताकर मानवता का जो संदेश दिया है वह भी द्रष्टव्य है। मानवता की पहचान के लिए उसके प्रतिपक्ष दानवता का विगर्ह्य स्वरूप भी जान लेना चाहिए। रावण और उसके पारिवारिकों के अत्याचारों के चित्रण द्वारा अवगत दानवता का स्वरूप इस प्रकार था—

"करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
जेहि बिधि होई धरम निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव विप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरि भगति जग्य जप दाना। सपनेहुँ सुनिय न वेद पुराना॥
जप जोग बिरागा तप मख भागा स्रवन सुनइ दससीसा।
आपुन उठि धावइ रहइ न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।
तेहि बहु बिधी त्रासइ देस निकासइ जो कह वेद पुराना॥
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जे करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्हके पापहिं कवन मिति[१]॥"

यह तो निशाचर कुल में जन्म लेकर निशाचरी लीला करने वालों की बात हुई। इसके अतिरिक्त निशाचर के समान आचरण करने वाले लोग भी निशाचर की ही श्रेणी में रखे गए हैं। देखिए—

"बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट पर धन पर दारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह से करवावहिं सेवा॥
जिन्हके यह आचरण भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी[२]॥"

× × ×

(१) 'मानस' बा० १८२.४-८;१८३.
(२) वही बा० १८३.१-३

और भी —

"पर-द्रोही, परदार-रत, पर-धन पर-अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरे मनुजाद[1] ॥"

विविध दानवीय कृत्यों के कितने ही विस्तृत जघन्य और भयावह रूप क्यों न हों पर उन सब के मूल उपर्युक्त अवतरण के थोड़े से शब्दों में निहित हैं। चाहे राक्षसों के द्वारा किए गए युगान्तर के अत्याचारों को लीजिए चाहे आज के अमानुषीय कृत्यों को लीजिए, पर उन सब के घटित होने में खलता, चोरी, जूआ, परद्रोहासक्ति, परदारासक्ति, परधनासक्ति, परनिंदासक्ति एवं सत्परामर्श-दायक गुरुजनों का अपमान करने की आसक्ति प्रवृत्तियाँ ही काम करती हुई दृष्टिगत होंगी। इन दानवीय प्रवृत्तियों के स्तम्भों पर कितने दुष्कृत्यों के महल बनाए जा सकते हैं इसका बताना कठिन है।

विचारणीय है कि तुलसीदास ने नर रूप में राक्षस का जो उल्लेख किया है क्या वह भी शास्त्रीय और ऐतिह्य है? उत्तर है हाँ, उनके ये विचार भी शास्त्रानुमोदित और प्रमाण-प्रतिपन्न हैं। नर रूप राक्षसों का निर्देश 'श्रीमद्भगवद्गीता'में है[2]। दंभ, दर्प, अतिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान आसुरी यानी राक्षसी सम्पत्ति में जन्म ग्रहण करने वाले प्राणियों को प्राप्त होते हैं[3]। ऐसे प्राणी प्रवृत्ति और निवृत्ति का मर्म नहीं समझते और ये सत्य, शौच एवं आचार शून्य होते हैं[4]। इनकी दृष्टि में सारे जगत् का हेतु विषय-वासना के अतिरिक्त और कुछ नहीं[5]। ये तुच्छ विचार वाले भ्रष्ट, दुष्ट लोग अपने क्रूर कर्मों के द्वारा जगत् का क्षय करने के लिए उत्पन्न होते हैं[6]। ऐसे लोग विषयोपभोग की इच्छा का आश्रय ग्रहण कर दंभ, मान, मद से आक्रांत होकर मनमानी कल्पना करके मोहवश हेय कर्मों में संलग्न रहते हैं[7]। आमरणान्त (सुख भोगने की) अगणित चिंताओं से ग्रस्त, कामोपभोग में परिलिप्त और निश्चयपूर्वक उसी को सत्य मानने वाले, सैकड़ों आशापाशों में जकड़े हुए,

---

(१) 'दोहावली' दो० ४०७
(२) दे० 'गीता' ९।११,१२
(३) ,, वही १६।४
(४) ,, वही १६।७
(५) ,, वही १६।८
(६) ,, वही १६।९
(७) ,, वही १६।१०

काम-क्रोध-परायण (ये आसुरी संपत्ति वाले) सुख लूटने के लिए अन्याय से विपुल वैभव-सञ्चय करने की तृष्णा करते हैं[१]। इनके अपरिमित व्यलीक मनोरथों, इनकी अहमहमिका, इनके अहंकार, दंभ, द्वेष, पाखंड आदि का संकेत[२] साथ ही इन्हें प्राप्त होने वाली अधोगति का उल्लेख भी है[३]।

अब यदि दानवता के उक्त संक्षिप्त स्वरूप को ध्यान में रख कर देखा जाय तो सर्वत्र तुलसीदास की यही घोषणा मिलती है कि दानवता का दमन हो, उसका निर्वासन हो। उन्हों ने अपनी कृतियों में जहाँ कहीं आसुरी वृत्तियों के उल्लेख का अवसर पाया वहीं उनकी घोर विगर्हणा तथा सत्प्रवृत्तियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मानवता के अप्रतिम प्रतीक राम के द्वारा दुर्नीति और दुर्वृत्तियों के दुर्जेय प्रतीक राक्षस राज रावण तथा अन्यान्य निशाचरों का पूर्ण पराभव दिखाकर भी उन्हों ने यही संदेश दिया कि मानवता की स्थापना के लिए दानवता का निर्वासन अनिवार्य है। भूतकाल के अपार उदर विवर में समाए हुए युगों में मानवता की जो उज्ज्वल कीर्ति प्रस्फुटित हुई उसे आच्छादित करने के लिए दानवता अनादि काल से अपनी दुर्भेद्य माया फैलाती रही है। वेदों में असुरों और देवों के संघर्ष का यही रहस्य है। मानवता के अद्वितीय व्यवस्थापक महर्षि वाल्मीकि की यह उक्ति देखिए—

"सुराणामसुराणां च धर्माधर्मौ तदाश्रयौ।
धर्मोहि श्रूयते पक्षो ह्यमराणां महात्मनाम्[४]॥"

यह तो हुई मानवता की स्थापना के लिए दानवता के निर्वासन की चर्चा। अब मानवता का नियत स्वरूप भी समझ लेना चाहिए। मनुष्य उच्च से उच्च ऐहिक और आमुष्मिक दोनों प्रकार की उन्नति की पराकाष्ठा तक जिन गुणों से सम्पन्न होकर पहुँच सकता है उन्हें ही यथार्थतः मानव, धर्म या मानवता कहना समीचीन होगा। 'गीता' में दैवी-सम्पत्ति को प्राप्त मनुष्यों के जो लक्षण बताए गए हैं, यदि उन्हें ही मानवता से अभिन्न कहा जाए तो कोई अनौचित्य न होगा। अर्थात् निर्भीकता, दानशीलता, क्षमाशीलता, ह्रीशीलता (लज्जा), अचपलता, तेजस्विता, शुचिता, यज्ञपरायणता, सत्यपरायणता, धैर्यपरायणता,

---

(१) दे० वही १६।११,१२
(२) ,, वही १६।१३—१८
(३) ,, वही १६।१६,२०
(४) 'बाल्मी०' युद्ध० ३५।१३

क्रोध-शमन, लोभ विगलन, अभिमानविगलन, इन्द्रिय-निग्रह, अद्रोह, स्वाध्याय, तपस्या, प्राणिमात्र पर दया, अपैशुन्य, अहिंसा, सत्त्व-संशुद्धि (शुद्ध सात्त्विक वृत्ति), शांति, त्याग, ज्ञान-योगव्यवस्थिति (ज्ञानमार्ग, कर्मयोग का तारतम्य से व्यवस्था), आर्जव (सरलता) तथा मार्दव (मृदुता) ही मानवता के शाश्वत लक्षण हैं[1]। इन लक्षणों को देखते हुए कहा जा सकता है कि मानवता का प्रतीक सच्चा मानव इन गुणों से शून्य कदापि नहीं होगा। जिस समाज में ऐसे मानवों की संख्या जितनी ही अधिक होगी वह समाज मानवता के उतने ही उच्च शिखर पर आरूढ़ माना जाएगा। इसके विपरीत जिस समाज में आसुरी वृत्तिवालों का प्राधान्य होगा उसमें दानवता का अट्टहास अवश्यंभावी है।

मानवता की आधार-शिला इन दैवीविभूतियों के चित्रण का प्रयास तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में कहीं मानवता के प्रतीक पात्रों के चरित्रांकन में, कहीं साधु-संत के लक्षण-निर्देश में, कहीं उपासना को सफल बनाने वाले साधनों की परिगणना में, कहीं वर्णाश्रम धर्म के आचरण में तो कहीं सर्व-सामान्य के लिए धर्म-व्यवस्था के स्थापन में अनेकानेक प्रकार से किया है। उसका अभिप्राय यही है कि वे समाज में इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा चाहते हैं। लोक-मंगल के अभिलाषी हैं। उन्हों ने राम के गुण-ग्राम का विश्लेषण इसीलिए किया है कि लोग उसे ग्रहण करके स्वयं पाप संताप-शोक आदि से मुक्त हों और और अपने उभय लोक सुधारें—

"जगमंगल गुन ग्राम रामके। दानि मुकुत धन धरम धामके॥
समन पाप-संताप सोकके। प्रिय पालक परलोक लोकके[2]॥"

मानवता की स्थापना के लिए प्रत्येक सामाजिक का व्यक्तिगत चारित्रिक उत्कर्ष तो अपेक्षित ही है साथ ही उत्कृष्ट श्रेणी की लोकव्यवस्था भी परमावश्यक है। ऐसी लोकव्यवस्था जिसमें उच्छृङ्खलताओं का प्रचारक व्यक्तिवाद तथा भौतिकता के पोषक हेतुवाद का ही बोलबाला हो, जिसमें खलों की वृद्धि के कारण अमानुषीय कृत्यों का ही प्रचार हो, जिसमें कल्याणकारी वर्णाश्रमधर्म और आस्तिकता का लोप हो गया हो—ऐसे गए बीते समाज की रक्षा के हेतु तुलसीदास अपने इष्टदेव से प्रार्थना करके ही नहीं रह जाते, अपितु अपनी यह

---

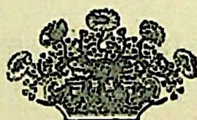
१. देखिए—"गीता" सोलहवें अध्याय के प्रथम तीन श्लोक।
२. 'मानस' बा० ३१.२,५

मंगलाशा भी प्रकट कर देते हैं कि राम ने उनकी सुन ली और रामराज्य की लोकव्यवस्था प्रस्थापित हो गई--

"दीजै दादि देखि नातो बलि, महीमोद-मंगल-रितई है।
भरै भाग अनुराग लोग कहँ, रामकृपा चितवनि चितई है॥
विनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है।
राम राजु भयो काजु सगुन सुभ, राजा रामु जगत-विजई है[1]॥"

मानव जाति के लिए इससे बढ़कर मानवता का दूसरा संकेत ही क्या होगा। वंदनीय हैं माता कौसल्या जिन्हों ने मानवता के ऐसे महान् संस्थापक तथा दानवता के दाहक श्रीरामको प्रकट किया--

"बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माँची।
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। विस्व-सुखद खल-कमल तुसारू[2]॥"



१. दे० 'विनय०' पद १३९
२. 'मानस' बा० १५.४,५

तुलसी की साहित्यिक देन और साधुता

भगवत्प्रेम और काव्य

तुलसीदास के संदेश की संक्षिप्त चर्चा के प्रकरण की इति करने के अनन्तर अब उनकी साधुता की छाया जो उनके पूरे काव्य-क्षेत्र पर पड़ती है उसका किंचित आभास प्रस्तुत प्रकरण में दिया जाता है। निस्संदेह तुलसीदास महान् प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि थे पर उन्होंने अपने काव्य का विपुल वैभव-दान अपने महान् साधु व्यक्तित्व की प्रेरणा से ही किया। यही कारण है कि उन्होंने प्रायः अपनी सभी रचनाओं को भगवद्भक्ति विषयिणी बनाया है। कोई भी सच्चा संत किसी संसारी व्यक्ति के गुणानुवाद में अथवा प्रपंचात्मक विषयों की चर्चा में अपना समय नहीं खोता। और यदि वह ऐसा करता है तो वह सरस्वती का गला घोंटता है। तुलसीदास ने स्वयं कहा भी है—

"कीन्हें प्राकृत-जन-गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना[१] ॥"

उनका विश्वास है कि काव्य अपने सभी गुणों से सम्पन्न होने पर भी यदि भगवद्भक्ति से संपृक्त नहीं है तो वह श्रीविहीन होगा—

"भनित विचित्र सुकविकृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ ॥
बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी[२] ॥"

रचना भगवद्भक्ति-विषयिणी तो रहे ही, साथ ही उसके अर्थ और प्रभाव की प्रेषणीयता भी ऐसी हो कि पाठकों के हृदय में कवि के द्वारा अनुभूति किए गए तत्त्वों की आनन्दानुभूति अत्यधिक बढ़ाए—

"मनि-मानिक-मुकुता छबि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी ॥
नृप-किरीट तरुनी-तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत छबि लहहीं[३] ॥"

गोस्वामीजी ने कवि-कर्म की महिमा तथा उसकी दुरुहता के व्यंजनार्थ अपनी प्रभूत विनम्रतावश अपने विषय में कहा है—

---

(१) 'मानस' बा० १०.७
(२) वही ,, ९.३, ४
(३) वही ,, १०.१—३

"कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे[१]॥"

× × ×

"कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ[२]॥"

कहना नहीं होगा कि इन उक्तियों से भी उनके व्यक्तित्व का, उनके संत होने का आभास मिलता है।

नवीन विस्तृत क्षेत्र की स्थापना

देखना यह है कि महात्मा तुलसीदास ने अपने साधु व्यक्तित्व और महा कवित्व शक्ति के कारण हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में किन-किन नूतनताओं को जन्म दिया। इसका मर्म समझने के लिए उनके इर्द-गिर्द के सम-सामयिक संस्कृत साहित्य की विभिन्न दिशाओं की क्षीण प्रगति एवं उनके पूर्ववर्ती या सामयिक हिन्दी-साहित्य की विविध प्रचलित काव्य-पद्धतियों के स्वरूप की एक संक्षिप्त पीठिका प्रस्तुत करनी होगी। तुलसीदास के युग का विनिर्मित संस्कृत-साहित्य संकुचित हो गया था और वह जीवनोन्नायक व्यापक प्रवृत्तियों से अनुप्राणित न था। उसमें रीति-ग्रन्थों के निर्माण की विशेष चेतना थी। तभी तो इस काल में 'वृत्ति-वार्तिक' 'चित्रमीमांसा', 'कुवलयानंद', 'अलंकार कौस्तुभ', 'उज्ज्वल नीलमणि' प्रभृति अलंकार ग्रंथों का सर्जन हुआ। कुछ नाटक और नाट्य ग्रंथों का निर्माण भी होता रहा जैसा कि 'चैतन्य चंद्रोदय', 'नाटकचंद्रिका' कंसवध' आदि नाटकों से पता चलता है। इस युग में जो महाकाव्य बने वे प्रायः रचयिता के आश्रयदाता राजाओं से संबद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। उदाहरण के लिए रुद्र कवि का (सं० १६५३) जो राष्ट्रौढ़-वंश के मयूरगिरि के राजा नारायण शाह और उसके पुत्र प्रतापशाह का आश्रित था, 'राष्ट्रौढ़वंश महाकाव्य' प्रसिद्ध है। इसी प्रकार श्रीराजनाथ (सं० १५६७) विरचित 'अच्युतरायाभ्युदय' महाकाव्य विजयनगर के राजाओं के प्रशस्तिगान के रूप में ही है। स्तोत्रकाव्य और सुभाषित काव्य की प्राचीन परंपरा भी लुप्तप्राय नहीं हो गई थी। इसीलिए चैतन्यमहाप्रभु के अनुयायी रूपगोस्वामीकृत' 'पद्यावलि' सदृश स्तोत्र काव्य भी दृष्टिगत होते हैं। संस्कृत-साहित्य की इन विविध रचनाओं के परिशीलन से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि उनमें संस्कृति समन्वय की भावना का

(१) 'मानस' बा० ८.८, ११
(२) वही ,, ११.६

अभाव, एक देशीयता और साम्प्रदायिकता की प्रस्थापना का प्रयास है; उनमें न तत्कालीन हिन्दू—मुस्लिम संस्कृति का संघर्ष मिटाने वाली युक्ति ही अवगत होती है और न काव्य, धर्म अथवा भक्ति की अनुपम संसृष्टि ही।

उपर्युक्त विवरण को दृष्टि में रख कर हमें यही स्वीकार करना होगा कि तुलसीदास की साहित्यिक देन उनके सामयिक संस्कृत साहित्य से पूर्णतया नवीन और सर्वांगीण है।

गोस्वामीजी की साहित्यिक देन के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह उनकी पूर्ववर्ती या सामयिक विभिन्न प्रचलित काव्य-पद्धतियों का अनुकरण मात्र है। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल जो लगभग चार-पाँच सौ वर्षों के लंबे अन्तराल के भीतर विविध सम विषम परिस्थितियों में फूला फला पहले उस ओर जब हमारी दृष्टि जाती है तो हमें उसके दो रंगी और अव्य-वस्थित रूप के दर्शन होते हैं। इस काल की रचनाएँ अपभ्रंश तथा देश भाषा दोनों में उपलब्ध होती हैं। अपभ्रंश की रचनाओं के नमूने बौद्धों की वज्र-यानशाखा के सिद्धों के गीतों, वाम-मार्गोपदेशों, अन्तर्मुख साधनों तथा घट के भीतर विरह-निरूपिणी अटपटी बानियों के रूप में देखे जा सकते हैं। (ये रचनाएँ पुरानी हिन्दी के सप्तम शतक से नवम शतक तक के स्वरूप की ज्ञापक हैं) देवसेन नामक जैन (सं० ९९०) ग्रंथकारकृत 'श्रावकाचार' 'दव्व सहाव पयास' आदि कृतियाँ तो दोहे में दिखाई ही पड़ती हैं साथ ही कुछ दूसरे जैन कवियों की अन्यान्य रचनाएँ यथा, 'सुयपंचमी कहा', 'योगसार' 'जसहर चरिउ', 'णाय कुमार चरिउ' आदि भी पाई जाती हैं। इनमें चरित-काव्य या अख्यान काव्य के लिए चौपाई-दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है। गोरख-पंथ के योगियों ने भी आदिकाल के हिन्दी-साहित्य में अपनी अनेकानेक कृतियाँ छोड़ी हैं[१]। इन सिद्धों और योगियों की रचनाओं के विषय में हमें यह न भूलना चाहिए कि वे तांत्रिक-विधान, योग-साधना, आत्म-निग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अन्तर्मुख साधना के महत्त्व आदि की साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं आतीं[२]। फलतः इनकी चर्चा यहीं छोड़ हम सामान्य साहित्य के अन्तर्गत रचनाओं में हेतचंद्र-कृत उनके अपभ्रंश के उदाहरणों को कह सकते

(१) दे० रामचन्द्रशुक्लः 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नवीन संस्करण, पृ० २२
(२) ४ वही वही ४ ,, २२:२३

हैं। साथ ही सोमप्रभ सूरि के 'कुमारपाल प्रतिबोध' में व्यवहृत अपभ्रंश के पद्यों को भी। जैनाचार्य मेरुतुंग के 'प्रबन्धचिंतामणि' में मुंज के कहे हुए दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी' के बहुत पुराने नमूने कहे जा सकते हैं शार्ङ्गधर-कृत 'शार्ङ्गधर-पद्धति' सुभाषित-संग्रह के बीच-बीच में भी देश भाषा के वाक्य आए हैं। परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीररासो' नामक वीरगाथा काव्य की रचना भी भाषा में की थी।

दूसरे रंग अर्थात् देश भाषा वाले आदिकाल के काव्य की ओर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि यह सामान्यतः चारणों या भाटों का गान था, जिसे वे अपने आश्रयदाता के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि के समय अलापते थे या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगे जगाने के लिए रचते थे। इस दशा में काव्य या साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। अतः वीर-गाथाओं की उन्नति हुई। ऐसी रचनाओं में 'बीसल देव रासो' और 'और पृथ्वीराज रासो' प्रभृति विशेपोल्लेखनीय है। भले ही ये संदिग्ध हैं, पर प्राकृत की रूढ़ियों से मुक्त भाषा के पुराने काव्य की परंपरा का हम जो संक्षिप्त विवेचन करते हैं वह इन्हीं के आधार पर करने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं। वीर-गाथा-काव्य यद्यपि मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में उपलब्ध होता है, पर विशेष महत्त्वपूर्ण प्रबन्धात्मक स्वरूप है। साहित्यिक प्रबन्ध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त है वह है—'पृथ्वीराजरासो'। यद्यपि यह हमारे साहित्य में आज तक के जितने ग्रंथ प्राप्त हैं उनमें सबसे बृहत्काय है तथपि यह आमूल-चूल उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि इसके इतने विस्तृत उनहत्तर समयों (सर्गों या अध्यायों) में अनेकानेक सुन्दर काव्य सौष्ठवपूर्ण प्रसंगों का सन्निवेश भी है, प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छन्दों विशेपतया कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, आर्या आदि का व्यवहार हुआ है, किन्तु छन्दों की विविधता, अध्यायों की विपुलता और रमणीय काव्यात्मक वर्णनों का होना ही तो उत्कृष्ट प्रबन्धकाव्य की आधारशिला नहीं है। वस्तुतः प्रबन्ध का मेरुदंड है—उसके कथानक की धारा वाहिकता, उसमें प्रतिष्ठित राष्ट्रीयता, उसमें संयुक्त सार्वदेशीय मानवता और इन सबके मूल में प्रबन्धकार की सर्वभूत-व्यापिनी दृष्टि का गंभीर प्रकाश। 'रासो' में ये बाते कहाँ? वह तो कवि के आश्रयदाता का प्रशस्तिगान मात्र है जिसमें जीवन के एकाङ्गी स्वरूप का कृत्रिम प्रदर्शन है। अशांति काल का साहित्य होने के कारण यह सांस्कृतिक दृष्टि से भी अधूरा है, केवल क्षत्रिय

जाति के वीरोत्साह का वर्णन करता है। हम इसे अव्यवस्थित प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं? ऐसे अव्यवस्थित प्रबन्ध में हमें सुव्यवस्थित परिधान की आशा भी नहीं करनी चाहिए, अर्थात् 'रासो' की भाषा भी अव्यवस्थित है। व्याकरण-च्युत इसकी तिरंगी भाषा (अर्थात् कहीं अनुस्वारांत संस्कृत और प्राकृत की अन्धी नकल, कहीं अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के प्रयोग तो कहीं अर्वाचीन हिन्दी के स्वरूप) की लपेट में पड़कर हम प्राचीन हिन्दी भाषा या साहित्य की इतिहास-शृंखला नहीं बाँध सकते और न आगे कोई विशेष लाभ ही उठा सकते हैं।

वीर गाथा काल के अन्य छोटे-मोटे काव्य ग्रन्थों के विषय में और कुछ न कह कर जब हम इस काल के अनन्तर प्रवाहित होनेवाले निर्गुण-मत प्रचारक सन्त-साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि इसमें भी काव्य के अविकसित स्वरूप का ही समावेश हुआ है। यह साहित्य केवल मुक्तकों के रूप में पाया जाता है। नामदेव, कबीर तथा अन्यान्य निर्गुणियों के दोहे या पद मुक्तक के ही रूप में हैं। उनकी भाषा और शैली अधिकतर ऊटपटाँग है। उनमें उपदेशात्मक और प्रचारार्थक वचनों का प्राधान्य है। वे साधनात्मक रहस्यवाद तथा भावात्मक रहस्यवादपूर्ण भी हैं। उनमें सच्छास्त्रों के प्रति अनास्था और प्राचीन वर्णाश्रम धर्म एवं उसके विधि-विधानों की निन्दा भी है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस पद्धति की रचनाएँ साम्प्रदायिकता से शून्य थीं या मतवाद का विषम विष नहीं वमन करती थीं। उनमें जीवन के प्रति उपेक्षा थी, वे वैराग्य प्रधान थीं। वैयक्तिक साधना को प्रश्रय देनेवाली थीं।

इसी सिलसिले में सूफी साहित्य-पद्धति भी अवलोकनीय है। इस पद्धति के शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियों की प्रेमगाथाएँ वास्तव में साहित्य कोटि के भीतर आती हैं। इनमें प्रायः सभी कवियों ने कहानियों के द्वारा प्रेम-मार्ग का महत्त्व दिखाया है। मार्मिक ढंग से लौकिक प्रेम के बहाने उस प्रेम-तत्त्व का आभास दिया है जो प्रियतम परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है। इनकी सभी कहानियों में सामान्यतः यही वर्णित है कि कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के अप्रतिम सौन्दर्य की चर्चा सुनकर प्रेमोन्मत्त हो गया, उसकी प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर भारी से भारी संकटों को झेला और अन्त में उसे प्राप्त किया। पर प्रेम की पीर की जो व्यंजना होती है वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे का दिखाई पड़ता है। प्रेम-कल्पना उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्यंजना, बीच-बीच में रहस्यमय परोक्ष की ओर हृदय-ग्राही मधुर संकेत आदि भी सूफी कवियों की निजी विशेषताएँ

हैं। कुछ की रचनाओं में साधनात्मक रहस्यवाद, हठयोग आदि की जो झलक मिलती है वह भारतीय योगियों, रसायनियों और तान्त्रिकों का प्रभाव है। अपनी प्रेम-कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए सूफी कवियों ने जिन प्रतीकात्मक कथाओं को चुना है वे हिन्दुओं के घर में प्राचीन काल से प्रचलित कहानियाँ हैं। कहानियों का मार्मिक आधार हिन्दू हैं[1]। सूफियों के प्रबन्ध काव्यों की रचना संस्कृत के महाकाव्य की सर्गबद्ध-पद्धति पर नहीं है प्रत्युत फारसी की मसनवी शैली पर है। हाँ, इनके शृंगार, वीर आदि के वर्णन कुछ अंशों में चली आती हुई भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार हैं। इस पद्धति के सभी प्रबन्ध काव्यों की भाषा एवं छन्दों में एक रूपता है, अर्थात् भाषा ठेठ अवधी है और प्रयुक्त छन्द हैं— चौपाई दोहा। आख्यान काव्यों के लिए चौपाई-दोहे की परम्परा बहुत पुराने (विक्रम के ग्यारहवें शतक के) जैन चरित काव्यों में मिलती है इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। सूफी-साहित्य-पद्धति में यों तो अनेक कवि आते हैं, पर उन सब में जायसी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी 'पद्मावत' हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में एक अद्भुत रत्न है।

अब हमें साहित्य की उस पद-पद्धति की ओर देखना है जिसके द्वारा कृष्णोपासना का मंजु स्वरूप द्युतिमान हुआ। इस पद्धति के विपुल भण्डार को सम्पन्न करने वाले अगणित पदों के सम्बन्ध में कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्रजभाषा में मुक्तक प्रगीतों के रूप में हैं। जिज्ञास्य है कि हिन्दी-साहित्य में ऐसे मुक्तक पदों का चलन कब से आया। अमीर खुशरो के गीतों, विद्यापति की पदावली, तथा कबीर की पदावली को ध्यान में रखते हुए यह कथन समीचीन होगा कि मुक्तक पदों की रचनाएँ भी हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही होती रहीं। पर उनका चरमोत्कर्ष सोलहवें शतक में प्रस्फुटित हुआ, जैसा कि कृष्णोपासक अष्टछाप तथा अन्यान्य कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं से अवगत होता है। सूरदास के अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों को हम पद-पद्धति-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट आदर्श कह सकते हैं। इनमें जो रचना प्रगल्भता और काव्यांगों की परिपूर्णता है उसके आधार पर 'सूरसागर' किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है[2]। इस पद्धति के वर्ण्य विषय की ओर देखने से प्रकट होता है कि इसमें श्रीकृष्ण की बाल-लीला तथा विशेष रूप से राधाकृष्ण

---

(१) राम० शु० "हि० सा० इ०' नवीन संस्क०, पृ० ८२
(२) 'हि० सा० इ०' पृ० १८५

की प्रेम-लीला ही सबने गायी है, किसी ने उनका सर्वांगीण चरित्र नहीं ग्रहण किया है। फलतः पद रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों का मार्मिक पोषण हुआ और न अनेक रूपता ही आई। हाँ, इस पद्धति ने वात्सल्य और शृंगार रस का अपार अकूपार भर दिया, इसमें सन्देह नहीं।

तुलसीदासकी पूर्ववर्ती और सामयिक साहित्यिक पद्धतियों के संक्षिप्त परिचय के साथ उनकी एकांगिकता और अपूर्णता का आभास दे चुकने के उपरांत अब जब हम तुलसीदास की रचनाओं की ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हमें उनकी साहित्यिक देन की नवीनता और व्यापकता ही चतुर्दिक् दृष्टिगत होती है। उन्होंने चंदबरदाई की भांति ऐसा प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा जो किसी प्रकार एक देशीय, अव्यवस्थित, अविकसित हो, या उत्कृष्ट प्रबन्धगत विशेषताओं से शून्य हो, प्रत्युत उन्हों ने ऐसा महाकाव्य प्रस्तुत किया जिसमें प्रबन्ध पटुता की सर्वाङ्गीण कला का पूर्ण परिपाक हुआ और जो हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों का आदर्श और शिरोमणि बना। आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति गाने के लिए चारणों या भाटों की जो कवित्त, छप्पय, सवैया आदि की मुक्तक पद्धति आदि-काल में चली थी उसमें भी तुलसी ने क्या भाषा, क्या भाव, सभी दृष्टि से पूर्णता ला दी। उन्होंने 'कवितावली' के मुक्तक छन्दों में अपने उपास्य का ऐसा मार्मिक प्रशस्ति-गान किया कि उसकी समता कोई प्राकृत-जन-गुण-गायक कवि क्या करेगा। जिन कवित्त सवैया आदि को चारणों की संकुचित दृष्टि ने वीर या शृंगार की अभिव्यक्ति का एकमात्र छन्द समझता था उन्हीं को तुलसीदास ने ऐसे सुडौल रूप में ढाला कि उसमें प्रायः सभी रसों की सुषमा देखते ही बनती है। कबीर और जायसी के मन्तव्यों का यथोचित सामञ्जस्य और परिष्कार तथा शैली का संस्कार करके उन्हें अपनाने में भी वे नहीं हिचके। इस्लामी प्रभाव के कारण उन दोनों में भारतीयता और सांस्कृतिक चेतना का अभाव तो था ही, साथ ही, वे हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक ऐतिह्य तथ्यों से पराङ्मुख भी थे। एक ओर जहाँ वे हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल-जोल कराने में सहायक थे दूसरी ओर वहीं हिन्दू समाज की प्राचीन वर्णव्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने वाले समाज विघातक भी थे। अनुभव सात्त्विक ज्ञानोपदेशक होने के साथ ही वे रहस्यवादी भी थे। गोस्वामी जी ने उनकी उक्त त्रुटियों को त्याग कर उनकी बातों में पूर्ण भारतीयता और संस्कृति का योग देकर उन्हें सांगोपांग काव्य के रूप में प्रकट किया। उन्हों ने पद-पद्धति को भी अपनाया। एक ओर उपासना और साधना-प्रधान एक से एक बढ़कर 'विनयपत्रिका' के पद रचे और दूसरी ओर लीला-प्रधान 'गीतावली'

तथा 'कृष्णगीतावली' के पद। उपासना-प्रधान पदों की जैसी व्यापक रचना तुलसीदास ने की है वैसी इस पद्धति के अद्वितीय कवि सूरदास ने भी नहीं की। पदों की भाषामें प्रांतीयता और तोड़-मरोड़ की जो भद्दी गाठें थी उन्हें घुला कर सार्वदेशीय सुसंस्कृत व्रजभाषा का बे-जोड़ प्रयोग करना भी गोस्वामी जी ने सिखाया। उन्होंने कुछ लोकगीतों को साहित्यिक रूप देने का कार्य भी किया जैसा कि 'नहछू' दोनों 'मंगल' और 'बरवै' की रचनाओं से प्रकट होता है।

कर्तृप्रधान एवं कर्मप्रधान काव्य की अपूर्वता—

गोस्वामी जी के व्यक्तित्व में उनका जो कविस्वरूप समाया हुआ है उसका महत्त्व समझने के लिए हमें काव्य के विविध स्वरूपों को ध्यान में रख कर यह विचार करना चाहिए कि उन्हों ने काव्य के जिन-जिन स्वरूपों का प्रणयन किया वे उन्हें किस श्रेणी का कलाकार ठहराते हैं। कविता के मुख्य दो विभाग किये जा सकते हैं, प्रथम भावात्मक, व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता तथा द्वितीय विषय-प्रधान अथवा लोकाभिव्यञ्जक कविता। इस दोनों विभागों के लिए कर्तृप्रधान कविता (सबजेक्टिव पोएट्री) तथा कर्मप्रधान कविता (आबजेक्टिव पोएट्री) का प्रयोग अनुपयुक्त न होगा। कर्तृप्रधान कविता में कवि का हृदय उसी प्रकार प्रतिविम्बित होता है जैसे एक उत्तम सुप्रभ दर्पण में किसी व्यक्ति का प्रतिबिम्ब। यद्यपि इस प्रकार की कविता कवि के वैयक्तिक विचारों और भावों की व्यंजक होती है पर इसके साथ ही यह भी स्मरण रहे कि ये भाव मानव-जाति के भावों के प्रतिनिधि होते हैं। तभी तो वे पाठकों को भी आत्मीय उद्गार-से प्रतीत होते हैं। शृंगार, नीती, स्तुति, निन्दा आदि की मुक्तक रचनाओं का अन्तर्भाव इसी कोटि में किया जाता है। कर्मप्रधान कविता का कवि के विचारों और मनोभावों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता। उसके विषय सांसारिक भाव और कार्य होते हैं। कवि बाह्य जगत् में जा मिलता है और उसी से प्रेरित होकर अपनी कविता का विषय ढूंढ़ता है फिर उसे अपनी कला का उपादान बनाता है और अपनी अन्तरात्मा को यथासंभव उसमें प्रच्छन्न रखता है। उसकी दृष्टि जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं के निरूपण की ओर रहती है न कि आत्माभिव्यंजन की ओर। कर्मप्रधान कविता के मुख्य भेद खंडकाव्य और महाकाव्य हैं। कर्तृप्रधान और कर्म प्रधान दोनों में उत्कृष्ट काव्य हो सकता है, तथापि कर्मप्रधान कविता यथातथ्य पर विशेषतया आधारित होने से विषय के यथार्थ निरूपण के कारण श्रेष्ठ समझी जाती है।

गोस्वामी जी ने काव्य के उक्त सभी स्वरूपों अर्थात् मुक्तक काव्य, खंड-काव्य और महाकाव्य तीनों पर अपना असामान्य अधिकार दिखाया है जिससे उनकी महान् कवित्वशक्ति की प्रकृष्टता का बोध सहृदयों को अनायास ही हो जाता है। मुक्तक काव्य के स्वरूप की ओर लक्ष्य करके अभिनव गुप्ताचार्य ने कहा है—'पूर्वापर निर्पेक्षापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्' अर्थात् जिसका रसास्वाद पूर्वापर प्रसंगों की अपेक्षा नहीं रखता उसे मुक्तक कहते हैं। ऐसा होने पर यह आवश्यक नहीं है कि मुक्तक पद्य में किसी रस की निष्पत्ति ही हो। उसमें वाग्वैदग्ध्य और सुभाषित अर्थात् नीति–धर्म–उपदेश–समन्वित सूक्ति भी हो सकती हैं। मुक्तक का उपयोग वस्तुतः नीति–सुभाषित में ही अधिक फबता है, क्योंकि इसमें पूर्वापर प्रसंग की इतनी आवश्यकता नहीं रहती। मुक्तक के प्रत्येक पद्य की लघु परिधि में रस के विविध अवयवों को जुटा कर रस की निष्पत्ति का सांगोपांग निर्वाह करना बड़े ही कुशल कवि का कर्म है, फलतः ऐसे प्रसंगों में मुक्तककार को अधिकाश में व्यंजना शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इसमें बहुधा पूर्वापर प्रसंग की कल्पना का कार्य सहृदय पाठक या श्रोता पर छोड़ दिया जाता है। वे मुक्तक का आनन्द उठाने के लिए एक पूरे प्रसंग का स्वतः मानसिक अध्याहार कर लेते हैं। मुक्तक का प्रभावाभिव्यंजन इस बात का द्योतक है कि जहाँ खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि प्रबन्धों में भाव की पुनः पुनः दीप्ति होने के कारण कुछ काल तक प्रसरणशीलता देखी जाती है वहाँ मुक्तक रचनाओं में यह भावदशा कुछ क्षणों तक ही टिकती है पर तीव्रता और मार्मिकता के कारण उसकी प्रभविष्णुता भी उच्च श्रेणी की होती है। तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध में उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन का दर्शन करते हुए कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी भाव ग्रहण करता है, किन्तु मुक्तक में रस के ऐसे स्निग्ध छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। उसमें अधिक से अधिक एक मर्मस्पर्शी खण्ड दृश्य के सहसा सामने लाए जाने के कारण पाठक या श्रोता मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता है अवश्य पर कुछ क्षणों के लिए हो। यह भी स्मरण रहे कि मुक्तक की इस कुछ क्षणों की ही विमुग्धकारिणी प्रकृति में भी कभी-कभी जीवन पर्यंत टिकी रहने वाली विशेष मनःस्थिति की अनूठी व्यंजना भी रहती है। प्रबन्धकार प्रबन्ध को काल-व्यतिक्रम दोष से बचाने, चरित्रांकन और वर्णन की दृष्टि से पूर्णता लाने तथा अन्यान्य नियमों का निर्वाह करने के नियन्त्रण में पड़कर स्वच्छन्दता से अपना हृदय खोल कर नहीं दिखा पाता;

इसके विपरीत मुक्तककार पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ अपने हृदय का अणु-अणु बिना किसी प्रतिरोध के दिखा सकता है। इसके अतिरिक्त मुक्तक की संक्षिप्तता की उपयोगिता भी निर्विवाद है। जीवन के झमेलों में व्यस्त प्राणियों को प्रबन्ध का आनन्द उठाने के लिए इतना अनिर्बन्ध अवकाश कहाँ है। जहाँ उनका समय परस्पर आनन्द-विनोद में व्यय हो रहा है वहाँ प्रबन्ध के लिए स्थान नहीं है। सभा-समाजों के लिए मुक्तक की संक्षिप्त रचना ही उपयुक्त है। मुक्तक की इन विशेषताओं को अनावृत्त करने का अभिप्राय प्रबन्ध की गरिमा पर आक्षेप करना नहीं है। प्रबन्ध काव्य तो श्रेष्ठ है ही, किन्तु मुक्तक भी आरोचनयुक्त होने से निन्द्य नहीं कहा जा सकता।

मुक्तक रचनाओं के अन्तर्गत आनेवाली गोस्वामीजी की कृतियों में 'दोहावली', 'बरवैरामायण', 'कवितावली', 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' तथा 'विनयपत्रिका' के नामोल्लेखनीय है क्योंकि ये उनकी प्रकृष्ट मुक्तक रचनाएँ हैं। इन्हें मुक्तक की किसी तुला पर तौलिए; इनके सभी पद्य संतुलित मिलेंगे। ऐसे संतुलनके समय हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं। अर्थात् तुलसी के सभी मुक्तक पद्य उत्तम कोटि के व्यंग्य प्रधान काव्य ही नहीं है, उनमें मध्यमकोटि के गुणीभूत काव्य के नमूने भी हैं और अधम कोटि के अव्यंग्य काव्य के भी। अन्तिम श्रेणी के काव्य में बाबाजी के उन सभी पद्यों की परिगणना करनी चाहिये जिनमें शब्द चित्र और वाच्य चित्र की रमणीयता के साथ उन्होंने सामान्य अनुभूति के क्षेत्र के सामाजिक नैतिक धार्मिक और पारमार्थिक तथ्यों को ही ऐसे नए और विशेष ढंग से कहा है कि वे भी अपनी प्रभविष्णुता और प्रसादगुण के कारण जन-साधारण के हृदय में घर कर लेते हैं। 'दोहावली' में ऐसे कथनों का आधिक्य है।

तुलसीदासकी मुक्तक रचनाओं के विषय में यह भी ध्यान देने की बात है कि मुक्तक होने पर भी उनमें सभी कर्तृप्रधान नहीं हैं प्रत्युत अधिकांश कर्म प्रधान ही हैं। 'गीतावली' यद्यपि गीतकाव्य है, फिर भी यह आद्योपान्त कथा को लेकर चली है। इसी प्रकार 'कवितावली' के लंकाकांड पर्यन्त जिन पद्योंका निर्माण हुआ है वे सब भी कथा-प्रसंग लेकर चले हैं। केवल उसके उत्तरकांड में कविका आत्माभिव्यंजन परिलक्षित होता है। इस कांड की अधिकांश रचनाएँ भक्ति-विषयिणी हैं जो राम भक्ति की पुष्टि के लिये रची गई हैं। इनमें राम और रामभक्ति की सर्वोत्कृष्टता के द्योतक साथ ही भक्त के उन्नत मानसिक अवस्थाओं के निर्देशक एक से एक बढ़कर मनोरम छन्द हैं, कुछ छन्दों में शिव का स्वरूप और उनकी उपासना के लिए शैव सम्प्रदायानु-

कूल पूजा-पद्धति का किञ्चित संकेत भी है, दो-एक छन्द श्रीकृष्णलीला संबंधी भी हैं, कुछ ऐसे छन्द भी हैं जिनमें रुद्रबीसी के अवसर पर महामारी का प्रकोप और उसके फलस्वरूप विश्वेश्वर-पुरी के नर-नारियों की अकाल मृत्यु का रोमाञ्चकारी चित्र खींचा गया है, दो चार छन्दों में अस्त-व्यस्त होते हुए वर्णाश्रम धर्म का संकेत भी है; कुछ छन्द ऐसे भी हैं जिनमें उन्होंने अपने जीवन की कुछ विशिष्ट दशाएँ जिनमें उन्होंने विविध प्रकार की यातनाएँ सहीं उनमें से कई एक को मूर्तिमान् कर दिया है, कुछ स्थान विशेष जहाँ-जहाँ उन्होंने पर्यटन किया था उनका सजीव वर्णन भी कुछ छन्दों में किया है। इस प्रकार 'कवितावली' के उत्तरकांड के वर्णनों की यह विविधता मुक्तक काव्य के विशेष अनुकूल पड़ती है। 'विनयपत्रिका' के पदों में भी उन्हों ने अपना वैयक्तिक साधु-हृदय खोल-खोलकर दिखाया है। अस्तु, 'विनयपत्रिका' के अधिकांश पदों और 'कवितावली' के उत्तरकांड की रचनाओं को कर्तृप्रधान काव्य कहा जा सकता है, अन्यथा उनकी अन्य मुक्तक रचनाएँ भी बहुत कुछ कर्म-प्रधान काव्य-सी प्रतीत होती हैं।

यह तो हुई कर्तृप्रधान मुक्तक काव्य के आधार पर उनके कविकर्म की किंचित् चर्चा। अब कर्मप्रधान काव्य के प्रमुख रूप महाकाव्य को सामने रख कर विचारणीय है कि इस पर उन्होंने अपना कैसा अधिकार, दिखाया है। तुलसीदास ने हिन्दी साहित्य को 'रामचरितमानस' सदृश अनर्घ महाकाव्य प्रदान किया है। इसे यदि हम महाकाव्योचित शास्त्रीय कसौटी पर कसना चाहें तो यह सर्वथा अद्वितीय ठहरेगा। इसमें सर्गबन्ध के स्थान पर जो आख्यान-योजना की रीति अवगत होती है वह ऋषि-प्रणीत महाकाव्य के अनुसार है। ग्रन्थारम्भ में देवों का अभिवादन भी महाकाव्य की रीति का पालन है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस महाकाव्य के धीरोदात्त नायक हैं ही। उसमें चतुर्वर्ग की सिद्धि का उदात्त लक्ष्य भी है। महाकाव्यन्तर्गत नगर-वर्णन देखना चाहें तो जनकपुरी, लंका तथा अयोध्या की रम्यता एवं वैभव के द्योतक वर्णनों का अवलोकन कीजिए। ग्रंथ में समुद्र और सामुद्रिक जलचरों का दृश्य भी अंकित है। पर्वतीय प्रान्तों और वन-खंडों की सुषमा चित्रकूट-वर्णन में देखी जा सकती है। ऋतुओं का वर्णन ढूँढ़ना हो तो सीता-हरण के पश्चात् राम के प्रवर्षण वास के प्रसंग में वर्षा और शरद ऋतु के चित्रण देखिए। ऋतुराज वसंत तो अनेकानेक प्रसंगों में चित्रित है विशेषतः जनक की वाटिका में तो उसका अवतार ही बताया गया है। चन्द्रोदय और सूर्योदय के वर्णन का अभाव भी नहीं है। उद्दीपन के रूप में वर्णित जनक के उद्यान में सीता-

राम के पूर्वानुराग का चरमोत्कर्ष-प्रदर्शन भी अप्रतिम है। महाकाव्य के अन्यान्य लक्षण, यथा—संयत संयोग-श्रृंगार, विप्रलम्भ-श्रृंगार, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मन्त्र, दूत-कर्म, अभियान, युद्ध और नायक के अभ्युदय आदि के उत्तमोत्तम वर्णनों की छटा भी 'मानस' में है। इसके अथोचित विस्तृत, अलंकृत और सरस एवं भावपूर्ण होने में कोई संदेह नहीं। इसकी प्रत्येक कथा संयत और उचित परिधि में वर्तमान है। इसमें श्रुति मधुर प्रसंगानुकूल छन्दों और उपयुक्त नाट्यसंधियों का भी पूर्ण समावेश है। यह महाकाव्योपयोगी तीनों प्रधान रसों (श्रृंगार, वीर, शांत) से पूर्णतया अभिषिक्त है, पर यह अवश्य है कि इसमें शांत (भक्ति) रस ही सर्वोपरि विराजमान है, अन्य सभी रस इसी के (भक्ति रस के) अंगभूत हैं। इसमें आरम्भ में खलों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा का प्रसंग भी सन्निविष्ट है। महाकाव्य के अन्य छोटे-मोटे लक्षण भी इसी प्रकार 'मानस' पर घटित हो सकते हैं।

गोस्वामीजी का 'रामचरित-मानस' महाकाव्य के शास्त्रोक्त प्राय: सभी लक्षणों से सम्पन्न होकर ही नहीं रह जाता। इसमें कुछ अन्यान्य मौलिक विशेषताएँ भी समाविष्ट हैं जो उनके जीवनोन्नायक साधुव्यक्तित्व, अलौकिक प्रतिभा एवं मानवीय उच्चादर्शों में अखण्ड आस्था के रुचिर परिणाम स्वरूप हैं। अधिकांश संस्कृत महाकाव्य-प्रणेताओं की रुचि जहाँ पाण्डित्य-प्रदर्शनोन्मुख होने के कारण शब्दाडम्बर-स्फीत अलोकसामान्य वाक्य सरणी ग्रहण करने और जन-सामान्य के जीवनयात्रा-चित्रण से दूर रही वहाँ लोकोपकारक तुलसीदासकी रुचि सर्वसाधारण के जीवन की व्यापक भूमि पर स्थिर होकर सामान्य वाक्य शैली के द्वारा भी उत्कृष्ट चरित अथवा भाव की अभिव्यक्ति में रमी। अपने उद्वेगजनक युगको प्रतिबिम्बित करते हुए तत्कालीन संघर्षों के प्रशमन की युक्ति निकालने तथा साम्प्रदायिक समन्वय करने का जैसा कुशल प्रयत्न उन्होंने अपने महाकाव्य में किया है वैसा केवल आकार प्रकार और वर्ण्य वर्णन आदि का अनुपालन करने वाले संस्कृत के अधिकांश महाकाव्य रचयिताओं से नहीं हो पाया। पात्रों के चरित्रांकन में भी तुलसीदास ने अपना मौलिक दृष्टि रखी है। यह नहीं किया है कि लक्षण-ग्रन्थों में गिनाए हुए गुणों का रंग भर कर नायक का ढांचा खड़ा कर दिया हो या किसी प्रमुख पात्र का चरित्र अविकसित. कृत्रिम अथवा असुन्दर बना दिया हो। मनोवैज्ञानिक रीति से चरित्रगत विशेषताओं का उद्‌घाटन करते हुए पात्रों का जैसा सहज स्वभाव तुलसीदास ने दर्शाया है वैसा संस्कृत के कुछ ही महाकाव्यों में मिल सकता है। राम के चरित्र में नरत्व और नारायणत्व के अपूर्व सामञ्जस्य की प्रतिष्ठा

के द्वारा गोस्वामीजी ने भक्ति का जो अनन्य आलम्बन खड़ा किया वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्ति और भ्रातृत्व का जैसा मणिकांचन-संयोग भरत के चरित्र से प्रतिष्ठित किया गया है वैसा सर्वत्र सुलभ नहीं। सात्विक, राजस और तामस सभी प्रकार के पात्रों के चरित्रांकन में स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए भी उन सब पर भगवत्प्रेम का रंग डालते रहना भी इस भक्त कवि के चरित्रांकन की निजी विशेषता है। बात यह है कि ऐसे प्रसंगों में वे कहीं-कहीं अपने व्यक्तित्व को प्रच्छन्न नहीं रख सके हैं। उनका भगवत्प्रेम उमड़ आया है। यह भी इस भक्त कवि की अपूर्व कला है जो उसने इस चरित्र-काव्य में भी अपने प्रधान प्रतिपाद्य भक्ति को इस प्रकार सन्निविष्ट किया है कि वह चरित-प्रवाह के साथ-साथ सरस्वती की लुप्त धारा के समान अप्रतिहत गति चलती है और अन्त में वह पीयूष-निष्पंद प्रसूत करती है जो सहसा सतृष्ण भक्त-हृदय को परम आप्यायित तथा तृप्त कर देता है। वर्णनों, घटनाओं और भावों का जब सुषम अनुपात में समन्वय रहता तो महाकाव्य की श्री और ही प्रकार की होती है। आदिकाव्यों को छोड़कर जब हम संस्कृत के अन्य महाकाव्यों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो वे एक प्रकार विकलांग-से प्रतीत होते हैं। उनमें घटनात्मकता का ह्रास और वर्णनात्मकता का प्राधान्य स्पष्टतः प्रकट होता है। बृहत्त्रयी में प्रधान 'नैषधीय चरित' में वर्णनों का बाहुल्य ही तो है। घटनाएँ तो नाम मात्र की ही हैं। तुलसीदास ने संस्कृत महाकाव्यों की रूढ़िगत परिपाटी का अनुकरण नहीं किया, प्रत्युत उन्हों ने अपने महाकाव्य में घटनाओं, वर्णनों और भावों की बड़ी ही अनुगुण योजना की है।

महाकाव्य-रचना पर तुलसीदास का विशेष अधिकार था इस प्रसंग की इति करने के साथ ही लगे हाथ उनके खंडकाव्य की चर्चा भी दो-चार वाक्यों में समाप्त हो जानी चाहिये। खंडकाव्य महाकाव्य की भांति प्रबन्ध काव्य ही है। इसीलिए खंडकाव्य में महाकाव्य के वर्णनीयों में से कुछ ही सन्निविष्ट किए जाते हैं। खंडकाव्य में किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध कथानक-खंड को वर्णनीय बना सकते हैं। खंडकाव्य का आधार काल्पनिक घटना भी हो सकती और उसका उद्देश्य भी साधारण हो सकता, पर महाकाव्य में महत् उद्देश्य का होना आवश्यक है। खंडकाव्यान्तर्गत गोस्वामीजी की ये कृतियां परिगणनीय है— 'रामलला नहछू', 'पार्वतीमंगल' और 'जानकी-मंगल'। 'नहछू' गार्हस्थ्य जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी गीत है। इसमें अयोध्या में होने वाला राम के पैर के नखों के कर्तन का पूर्वांग-भूत कृत्य बड़े ही रंजक ढंग से वर्णित है। 'नहछू' यद्यपि बहुत छोटा-सा केवल बीस छन्दों में लिखा हुआ गोस्वामीजी का

प्रारम्भिक काव्य माना जाता है, तथापि उनकी इस प्रारम्भिक रचना में भी उनकी प्रबन्ध पटुता का आभास प्रत्येक छंद से मिलता है। मुख्य वर्ण्य विषय वर्णन की उपयोगिता का यथार्थ परिज्ञान रखने के कारण वे प्रासंगिक गौण वर्णनों का अनुपात भी खूब समझते थे। यदि उन्हें मात्रा का यथार्थ बोध न होता तो वे राजभवन के सुषमावर्णन के साथ उस अवसर पर छाए हुए आनन्दोल्लासमय वातावरण का विस्तृत वर्णन करते, तदनन्तर नहछू का प्रसंग छेड़ते। पर उन्हों ने वैसा नहीं किया। वस्तुतः उन्हें ध्यान था कि नहछू की छटा दिखाना उनका वर्ण्य विषय है, फलतः उन्हों ने नगर-वर्णन, उसके उल्लास और माता कौसल्या के अपार हर्ष आदि सभी व्यापारों को समेट कर एक ही छन्द में इंगित किया—

"कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो।
देव लोक सब देखहि आनंद अति हिय हो।
नगर सोहावन लागति बरनि न जातै हो।
कौसल्या के हरष न हृदय समातै हो[1]।।"

बस, इतना ही वर्णन देकर कवि झट नहछूस्थल 'आलेहि बाँस के माड़व मनि गन पूरन हो[2]।' पर आ जाता है और माड़व का प्रसंग भी एक छन्द में ही रमणीय ढंग से समाप्त करके नहछू का प्रसंग उपस्थित कर देता है। इस संस्कार के अवसर पर जिन-जिन विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा जो-जो विशेष कार्य होते हैं उन सबके वर्णन में उन्हों ने कवि-हृदय की तन्मयता अवश्य दिखा दी है[3]। उन्हों ने ऐसा भी नहीं किया है कि वे लोहारिन, अहिरिन, तम्बोलिन, नाइन आदि की एकाध शृंगारिक चेष्टाओं के अतिरिक्त उनका अनावश्यक वर्णन करने लगे हों। वस्तुतः उनकी बुद्धि इतनी सधी थी कि वे भली भाँति जानते थे कि प्रबन्धकाव्यन्तर्गत अमुक वस्तु निर्देश के लिए अमुक शब्द या वाक्य ही पर्याप्त होगा। राम के चरणों में महावर लगने के अवसर पर भी उनकी संयत बुद्धि सचेष्ट है। ऐसा नहीं हुआ कि उक्त प्रसंगों में ही व्यर्थ का विवरण चला गया हो या राम के ही नख-शिख वर्णन का विस्तार हो। हाँ, ऐसे अवसर पर उनका भक्त हृदय मौन नहीं रह सका फलतः उन्हों ने उपास्य के चरण और चरण-रज की महिमा भी गाई पर दो ही चार शब्दों में।

(१) 'रामलाल नहछू' छ० २
(२) वही ,, ३
(३) वही ,, ४–११

'नहछू' की ही भाँति 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' की प्रबन्ध-योजना भी बेदाग ठहरती है। इन दोनों में भी कहीं रञ्चमात्र असंयत, अभीष्ट परिधि-भञ्जक न्यूनाधिक अथवा किसी प्रकार का प्रतिकूल वर्णन नहीं मिलेगा। जहाँ तक वर्ण्य विषय का संबंध है 'पार्वती-मंगल' में पार्वती के विवाह का वर्णन है, जिसमें महाकवि कालिदास के 'कुमार संभव' से भी सहायता ली गई है, कुछ छन्द तो छायानुवाद के रूप में ही रखे गये हैं। 'जानकी-मंगल' में सीता-विवाह का वैसा ही वर्णन है जैसे 'पार्वतीमंगल' में पार्वती-विवाह का। निस्संदेह दोनों 'मंगल' भी सफल प्रबन्ध काव्य हैं, उनमें गोस्वामी जी अपने भक्त स्वरूप को प्रच्छन्न रखते हुए सर्वत्र एक मर्यादावादी विशुद्ध कवि के ही रूप में दिखाई पड़ते हैं पर अन्त में ग्रंथमाहात्म्य संबंधी छन्दों के आ जाने से यहाँ भी साधुता की एक झलक मिल जाती है। उक्त तीनों खंडकाव्यों में तुलसीदास ने तत्कलीन गार्हस्थ्य जीवन की बड़ी ही सटीक और मनोरम झांकी करा दी है। ये तीनों ही पूरबी अवधी में लिखे गए हैं, भाषा बड़ी ही मधुर और ठेठ रूप में प्रयुक्त है।

भाषा का आदर्श

गोस्वामीजी के काव्य के त्रिविध स्वरूपों (मुक्तक, खंडकाव्य, महाकाव्य) में प्रयुक्त उनकी भाषा का प्रतिमित स्वरूप देख कर उनकी भाषा की महत्ता भी विचारणीय है। अवधी में निर्मित 'मानस' तथा व्रजभाषा में रचित 'गीतावली', 'कवितावली', 'दोहावली', तथा 'विनयपत्रिका' प्रभृति कृतियों की भाषा का मर्म भली भाँति समझ लेने पर यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि इनके द्वारा उन्हें मध्यकालीन भारत की एक ऐसी भाषा का प्रस्थापन अभीष्ट था जो समस्त उत्तरापथ की राष्ट्रभाषा हो सके। यदि उनका यह व्यापक उद्देश्य न होता तो जायसी की भाँति वे भी अपने महाग्रन्थ को कोरी प्रान्तीय ठेठ अवधी के कठघरे में बन्द करके रखते, व्रजभाषावाली कृतियों को एकमात्र ऐसी विशुद्ध, चलती और टकसाली व्रजभाषा में ढालते कि घनानंद भी चौंधिया जाते। वस्तुतः गोस्वामीजी ने अवधी और व्रजभाषा दोनों के बाह्य रूप और उनकी सूक्ष्म अपरिहार्य प्रवृत्तियों की यथासंभव रक्षा करते हुए उन्हें राष्ट्रभाषा के उपकरणों से सम्पन्न करने का सफल प्रयास किया है। उन्हों ने दोनों भाषाओं को प्रशस्त करने और स्थायित्व देने के लिए उनका सम्बन्ध मूल प्राचीन आर्य-भाषाओं से अविच्छिन्न रख कर हिन्दी भाषा की परंपरा का पालन एक ओर किया और दूसरी ओर अपने समकालीन समाज के अन्तर्गत विकसित और

प्रचलित जनसामान्य की विभाषाएँ और बोलियों तक के ही नहीं, अपितु अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के अनेकानेक पदजात भी ग्रहण करके दोनों भाषाओं को अधिक से अधिक व्यापक और सर्वजन सामान्य स्वरूप देने का प्रयत्न किया।

प्राचीन आर्य भाषाओं में से संस्कृत को ये कैसा महत्त्व देते थे इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि 'मानस' के श्लोक, स्तुतियों के छन्द और कहीं-कहीं चौपाइयों की मालाएँ भी संस्कृत के तत्सम शब्दों और विशेषतः संस्कृतमय श्रुति से शोभित और स्वरित होती हैं। 'विनयपत्रिका' में शिव और राम-स्तुति-संबंधी अनेकानेक पदों में भी संस्कृत पदावली का प्राचुर्य है। सामान्यतः भी उनकी कोई ऐसी कृति नहीं है जिसमें संस्कृति के तत्सम शब्दों का अभाव कहा जा सके। उनकी संस्कृत पदावली के प्रयोग में पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा कृत्रिमता का सर्वथा अभाव है, ऐसा लगता है कि संकृस्त के शब्द प्रकृतितः स्वयं अपने उचित स्थान पर आकर जम गए हैं, अपरिवृत्तिसह हो गए हैं। स्मरण रहे कि उन्होंने प्रचुर परिमाण में जिन संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है वे प्रायः तत्कालीन हिन्दी भाषा, विभाषाएँ और बोलियों तक में प्रचलित हो गए थे। अतः यह अनिवार्य था कि वे प्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग बराबर करते जैसा कि उन्हों ने यथेष्ट परिमाण में किया भी है, इसके अतिरिक्त वे केवल संस्कृत में ही चलनेवाली पदावली से भी अपनी दोनों भाषाओं के अंगों को विभूषित करने में नहीं हिचके। 'नव-रसाल-वन बिहरन सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला[1] ॥' सदृश तत्सम पदावली तो अपनायी ही साथ ही सविभक्तिक पद भी ग्रहण किए यथा, "जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ[2]। "उरसि गजमनि माल[3]"। 'मम', 'तव', 'ते', 'अहम्' आदि सर्वनाम तथा 'अस्मि' 'अस्ति' 'पश्य' 'वद' आदि क्रियाएँ भी अपने विशुद्ध रूप में नग की भाँति जड़ दी गई हैं। 'इदं', 'अयं', 'किमपि', 'तेऽपि' 'अपि', 'कोऽपि', 'सोऽपि' 'मानस' और 'विनय०' में देखे जा सकते हैं। यही नहीं 'मानस के श्लोकों और स्तुतियों की भाषा में यत्र-तत्र 'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा' के समान विशुद्ध संस्कृत वाक्यावली भी उत्तम रीति से प्रयुक्त हुई है।

---

(१) 'मानस' अयो० ६२.७
(२) वही „ ५६.४
(३) 'गीतावली' उ० गीत ६

इस प्रकार हिन्दी में संस्कृत भापा का समन्वय और संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग उन्हों ने साभिप्राय किया है इनके द्वारा एक ओर तो उन्हों ने अपनी भापा को शिष्ट रूप दिया और उसे महत्तम और उन्नततम भावों का वाहक और प्रकाशक बनाया और दूसरी ओर उन्हें देशभापा के संयत और मनोरम साँचे में ढाल कर चलनसार और टकसाली रूप दे दिया। उनकी यह (भाषा-निर्माण की) कला अपूर्व है।

संस्कृत के अनन्तर अब प्राचीन आर्यभापाओं में शौरसेनी अर्द्धमागधी प्राकृतों के नाम उल्लेखनीय हैं क्योंकि प्रथम से व्रजभापा तथा उसकी बुन्देलखण्डी आदि विभापाएँ और द्वितीय से अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी आदि उद्भूत हुई हैं। गोस्वामीजी उक्त दोनों प्राकृतों और अपनी दोनों भापाओं के सन्निकृष्ट सम्बन्ध से पूर्णतया अभिज्ञ थे। उन्हों ने दोनों प्राकृतों की कुछ विशेपताओं का समावेश अपनी दोनों भापाओं में किया है। उनकी अवधी और व्रजभाषा दोनों की रचनाओं में क्रिया के जो कर्मणि प्रयोग मिलते हैं उनमें प्राकृत से गृहीत रूपों का ही विकास अवगत होता है। यथा—

"अब मुनिवर बिलंब नहिं कीजइ। महाराज कहुं तिलक करीजइ॥"

'मानस' उ० ९.८

"देसकाल उपदेस सँदेसो सादर सब सुनि लीजै।"

'कृष्णगीतावली' पद ४५

कहना नहीं होगा कि पहले अवतरण में 'कीजइ' और 'करीजइ' पद प्राकृत के 'किज्जइ' और 'करिज्जइ' के रूपान्तर मात्र हैं और दूसरे अवितरण का 'लीजै' प्राकृत के 'लिज्जइ' से पृथक् नहीं।

व्रजभापा और अवधी के भविष्यत् काल की क्रियाओं के स्वरूप क्रमशः शौरसेनी प्राकृत और अर्द्धमागधी प्राकृत से विकसित हुए हैं। यथा व्रजभापा का 'चलिहै' (जायगा) शौरसेनी प्राकृत के 'चलिस्सइ' का ही विकसित रूप है जो संस्कृत के कर्तुवाच्य 'चलिष्यति' से बना है। उधर संस्कृत का कर्मवाच्य 'चलितव्यम्' मागधी प्राकृत की वर्गवाली विभापा अवधी आदि में विकसित होकर 'चलब के रूप में आया। 'मानस' में इन दोनों रूपों के प्रयोग किए गए हैं। उदाहरणार्थ निम्नांकित अवतरणों में रेखांकित पदों को देखिए—

"हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई।" ('मानस' लं० ७८.१२)

"सुनि सुख लहब राम बैदेही।" (वही अयो० १७३.५)

गोस्वामी जी की रचनाओं में प्रयुक्त 'बोलि', 'सुनि', 'उठि', 'देखि' आदि पूर्वकालिक क्रियायों के अन्त में जो 'इ' जोड़ा गया है वह भी प्राकृत में

पूर्वकालिक क्रिया-निर्माण करने के नियम के अनुरूप है। शौरसेनी अपभ्रंश के अनुसार क्रिया का आज्ञा सूचक स्वरूप भी इकारान्त तथा उकारान्त होता था, तुलसीदास ने ऐसे प्रयोग भी किए हैं। अपभ्रंश में बहुत से कारकों में काम देनेवाली इयत्ति—'हे', 'हुँ', 'हू', 'हं', 'हि', 'हिं', 'हो' आदि में से केवल 'हि' का प्रयोग उन्हों ने अपनी भाषा में प्रायः सभी कारकों में किया है। अपभ्रंश में प्रयुक्त सम्बन्ध-वाचक परसर्ग 'केर' और उससे निष्पन्न 'कर', 'क', 'का', 'के' 'कै' आदि के प्रयोग भी 'मानस' में हुए हैं।

तुलसीदास ने अपने काव्य में विशिष्ट चारुता लाने के लिए जैसे संस्कृत के अक्षय भण्डार से तत्सम शब्दों की बृहद् विभूति ग्रहण की वैसे ही उन्हों ने प्राकृत के क्षेत्र से होकर आने वाले तद्भव शब्दों के अपरिमित ऐश्वर्य के द्वारा भी अपनी रचनाओं में अपूर्वता की अनुपम संसृष्टि की है। उन्हों ने जिन तद्भव शब्दों के प्रयोग किए हैं वे सब प्रायः जन सामान्य के बीच प्रचलित बोलियों के बीच चलने वाले शब्द हैं; वे ऐसे शब्द नहीं हैं कि प्राकृत व्याकरण के अनुसार गढ़ कर यों ही रख दिए गए हैं। गोस्वामीजी की रचनाओं में प्रयुक्त 'अहेर', 'थूनि' 'भीतर', 'भूख', 'घाम' 'हाथ', 'आंधी', 'डेरा' 'जनेऊ', 'पनहीं', 'बूढ़', 'चोखा', 'कान्ह', 'नैहर', 'ससुरारि', 'निहोरा' आदि तथा इन्हीं के समान और भी अनेकानेक तद्भव शब्दों के प्रयोग किए गए हैं जिनका प्रचलन बोलचाल में आज भी है और तुलसीदास के समय में तो था ही।

प्राकृत से होकर आनेवाले तद्भवों को यहीं छोड़ अब एकाध पाली से गृहीत शब्द भी देखिए। 'मानस' की एक उक्ति है—"मारेसि गाइ नहारू लागी॥" इसमें 'नहारू' ताँत के अर्थ में आया है। पाली भाषा में यह इसी अर्थ में चलता रहा।

तुलसीदास की भाषा के विशाल भण्डार में कुछ देशज शब्दों की उपनिधि भी सम्मानपूर्वक रक्षित है। तभी तो उनकी रचनाओं में डोंगर, 'टाट', 'गोड़', 'पेट', 'डाबर', 'झोंपड़ी', 'घमोई' आदि अनेक देशज शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द भी बोलचाल में बराबर चलते हैं।

गोस्वामीजी ने ठेठ और तद्भव शब्दों को प्रचलनशीलता के अतिरिक्त इस कारण से भी प्रयुक्त किया है कि उनके द्वारा कहीं-कहीं किसी वस्तु-स्थिति, अवसर या व्यक्ति की बड़ी ही नैसर्गिक अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिए उनके एक ठेठ शब्द 'कठौता का यह प्रयोग देखिए—

"पानि कठौता भरि लेइ आवा॥"

निषाद के पास कठौत आदि के सिवाय सोने चांदी के थाल तो रहे न होंगे अतः 'कठौता है के स्थान पर हैम थाल आदि के प्रयोग कृत्रिम ही लगते। हाँ राजधानी में जहाँ सभ्य लोग थे और जहाँ कुबेर का खजाना था वहाँ कवि ने राम की आरती करने के लिए गजगामिनियों के कर में कंचन-थाल ही दिखाया है।

तुलसीदास ने अपनी व्रजभाषा और अवधी दोनों को उनकी विभाषाओं के कुछ शब्दों से भी वंचित नहीं किया है। उनकी व्रजभाषा की कृतियों में आनेवाले बुंदेलखंडी के दो-चार शब्द ये हैं—'पनवार' (पत्तल), 'चारितु' (चारा), 'खेरा' (गाँव), 'गेडुआ', 'भाँड़िगो', 'कीबी' (करना), 'पालबी', 'डारबी आदि। 'मानस' में भी, 'चुपेती' (हल्की दुलाई), 'रैंगाई', 'जानिबी' 'मानिबी' प्रभृति शब्दों के प्रयोग किए गए हैं।

राजस्थानी के 'म्हाको', 'दारु' (बारूद), 'वारिफेरि' (निछावर), 'माठ' (घड़ा), 'सारा' लगाया), 'मनुहारि' (मनाना) आदि शब्द भी गोस्वामीजी की रचनाओं में सत्कृत हुए हैं। यही नहीं 'मानस' में दो-एक पंजाबी शब्दों के भी दर्शन होते हैं, जैसे—'धुवाँ देखि खरदूषन केरा।' में 'धुवाँ' और 'खाहिं मधुर फल विटप हलावहिं। लंका सनमुख सिखर चलावहिं॥' में 'सिखर'। पंजाबी के 'धुवाँ' का अर्थ लाश होता है और 'सिखरा' जूठन के अर्थ में आता है। तुलसीदास ने इनका प्रयोग इसी अर्थ में किया है

मराठी के 'फोकट' और गुजराती के 'मूकिए' (छोड़िए), 'मौंगी' (चुप) सदृश शब्द भी तुलसीदास की भाषा में स्थान पा गए हैं।

पूरबी हिन्दी की बघेली और छत्तीसगढ़ी आदि बोलियों के कुछ शब्द भी उन्होंने प्रयुक्त किए हैं। यथा बघेली का 'सुआर' (रसोइया , 'बागत' (घूमते हुए) आदि।

भोजपुरी के प्रति भी गोस्वामी जी तटस्थ नहीं थे, फलतः उन्हों ने इसे भी सम्मानित किया। 'मानस'-हृद में डुबकी लगाकर यह भी कृतकृत्य हो गई। देखिए—"सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। अस कहि कोपि गगन पथ धायल॥" 'रौरे' और 'राउर' (आपका) का प्रयोग तो बराबर आया है। 'विनयपत्रिका' में 'सरल' (सड़ा हुआ) तथा 'दिहल' जैसे भोजपुरी के शब्द आए हैं।

बँगला के 'सकाल' (सबेरा) और 'थाको' (ठहरना) का प्रयोग भी बाबा जी ने किया है। देखिए—"अवधेस के द्वारे सकारे गई।" "रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ।"

वर्तमान खड़ी बोली का प्रादुर्भाव गोस्वामीजी के बहुत पहले हो चुका था। अतः उनके समय तक जनसामान्य के बीच इसका प्रचलन किसी अंश तक अवश्य पहुँच चुका था अन्यथा वे अपनी रचनाओं में खड़ी बोली के ऐसे प्रयोग न करते—

"दास तुलसी संभु सरन आया।" ('विनय०')
"कृपा सिंधु तव मंदिर गए।" ('मानस')
"जब ते रघुनायक अपनाया।" (वही)

तुलसीदास के आविर्भावकाल के कई शतक पहले ही मुसलमानों ने देश पर अपना सिक्का जमा लिया था। उसके परिणाम स्वरूप विविध प्रतिक्रियाओं में से एक यह भी थी कि सभी मध्यकालीन आर्य भाषाएँ, विभाषाएँ और बोलियाँ तक भी अरबी, फारसी से अछूती न रह सकीं। दरबार से सम्पर्क रखनेवालों का तो कहना ही क्या, जनता ने भी न जाने कितने अरबी, फारसी के शब्द अपना लिए और वे सब जन-सामान्य की भाषा में घुल-मिल गए। उनका विदेशीपन उड़ गया। अपने युग की सार्वजनिक भाषा के मर्मज्ञ तुलसीदास भला जनसामान्य में प्रचलित अरबी, फारसी के शब्दों की उपेक्षा कब कर सकते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में उक्त भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रचुर प्रयोग पूर्ण स्वातंत्र्य के साथ किया। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त कुछ अरबी के शब्द ये हैं—'साहिब' 'गर्नी' 'गरीब', 'लायक', 'खबरि', विदा, गुलाम, 'सबील', 'माहली', 'किसब' 'जाहिर', 'बैरख', 'फजीहत', 'सतरंज', 'सौदा' आदि।

फारसी शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं—'जहाना', 'कागद', 'अबरेब', 'नेवाजे', 'बकसीस', 'सहनाई', 'दरबार', 'बेचारा' 'हवाले', 'बंदीखाना', 'मालुम', 'जरकसी', 'दिल' 'खजानो', 'जोलहा', 'दराज' 'सरनाम', 'तोपची' कूच', 'खरगोसु', 'गरम' 'जेरो', 'खाको', 'सरीकता' 'मिस्कीनता' आदि।

ऊपर के दिए हुए इन उदाहरणों से एक बात यह स्पष्टतया प्रकट हो रही है कि तुलसीदास ने अरबी फारसी से गृहीत शब्दों में अपनी भाषा अवधी और व्रजभाषा के अनुसार ध्वनि परिवर्तन आदि भी स्वच्छंदता पूर्वक किया है। उन्हों ने 'शरीक' को प्रचलित समझ कर अपनाया, पर उससे भाववाचक संज्ञा बनाने में हिन्दी व्याकरण का प्रयोग किया और 'सरीकता' लिखा न कि 'शिरकत'। ऐसे ही 'मिस्कीन' से मिस्कीनता' बनाया। अपनी ही भाषा की ध्वनि और व्याकरण के आधार पर उन्हों ने फारसी के 'साज' को 'साज', 'साजा', 'साजी', 'साजू', 'साजे', 'कुसाज' 'सुसाज', 'साजक' आदि

सभी रूपों में विकसित कर दिया है। यदि 'निवाज' जनता के बीच 'नेवाज' रूप में रहा तो उन्हों ने उसे भी आवश्यकतानुसार 'निवाज', 'निवाजा', 'निवाजी', 'निवाजू', 'निवाजे' ही नहीं, अपितु ब्रजभाषा की क्रिया 'निवाजिबो' रूप में भी चला दिया। उन्हों ने ऐसे और भी कितने द्विज शब्दों का सर्जन किया।

उन्हों ने कृत और तद्धित प्रत्ययों से बने कितने ही हिन्दी के शब्दों का प्रयोग किया है जो आज भी बोलियों में पाए जाते हैं। यथा, 'रोटिहा', 'कुँअ-रौटा', 'देवैया', 'खेवैया'; 'मोटरी' 'सहेली' आदि।

अनेकानेक प्रचलित आनुकरणिक शब्दों के प्रयोग भी उन्हों ने बराबर किए हैं। यथा, 'रुनझुन', 'हिहिनाहीं', 'किलकिला', 'फुंकरत' 'कसमसाति' 'घुरघुरात' आदि।

नामधातुओं का निर्माण चलती भाषा का व्यापक जीवन है। वर्तमान खड़ीबोली में नामधातुओं के निर्माण की शक्ति का अभाव है। इसी से बहुत से व्यापारों के अभिव्यंजन में यह ऐसा द्राविड़ प्राणायाम करती है जो बहुत ही अस्वाभाविक जान पड़ता है। तुलसीदास ने 'हथवासहु,' 'आचै', 'भितैहौ' प्रभृति नामधातुओं के प्रयोग भी किए हैं।

किसी बोलचाल की भाषा का माधुर्य समझने के लिए उसके मुहावरों की रत्न-पिटारी का निरीक्षण भी सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि बोल चाल की भाषा का सम्पूर्ण माधुर्य और सजीवता मुहावरे में ही आती है। मुहावरे का सौन्दर्य चलती और स्वाभाविक भाषा में ही खिलता है। कृत्रिम भाषा के मेल में तो वह विरूप सा हो जाता है। तुलसीदास की भाषा और मुहावरों में मणि-कांचन का संयोग है। एक नहीं सैकड़ों, मुहावरों के प्रयोग हुए हैं, पर मजाल नहीं कि कहीं वे विरूप लगते हों। उनके मुहावरों के प्रयोग से उनके कथन में सुषमा ही नहीं आई है, अपितु उनका व्यवहार-कौशल उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति एवं प्रयोग-नैपुण्य भी दीप्त हो उठा है। गोस्वामीजी की रचनाओं में प्रयुक्त दो-एक मुहावरे देखिए—

"महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे।" (विनय०)
"रेख खँचाइ कहउँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥"
(मानस)

'दूध की मक्खी होना' ही नहीं 'घी की मक्खी होना' मुहावरा भी चलता है। उन्हों ने इसका भी प्रयोग किया है—

"राखि कहि है तो ह्वै है माखी घिय की।" (विनय०)

समाज अपने चिरन्तन व्यवहारों और अनुभवों में से कितनों को विशेष आवश्यक और मार्मिक समझ कर अपनी चलती भाषा में लोकोक्तियों के रूप में सुरक्षित रखता है। जिस कवि का सामाजिक, व्यावहारिक ज्ञान बढ़ा चढ़ा रहता है और जो जन-सामान्य की बोलचाल की भाषा में पारंगत है वह समाज में प्रचलित लोकोक्तियों की भी पूरी जानकारी रखता है। लोकोक्ति के प्रयोग में चारुता तभी दृष्टिगत होती है जब वह स्वाभाविक और चलती भाषा में नगों की भाँति जड़ी रहती है। कृत्रिम भाषा में वह भी बे-मेल ही लगती है। गोस्वामीजी के द्वारा किए गए लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग उनकी भाषा की स्वाभाविकता और मनोहरता ही बढ़ाते हैं। उनकी लोकोक्तियों के कुछ नमूने देखिए—

"दुइ कि होहि एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला॥"
(मानस)

× × ×

"खाती दीप मालिका ठठाइयत सूप है।" (कविता०)

× × ×

"चीरी को मरनि खेल बालकनि को सो है।" (बाहुक)

× × ×

"दूध को जरयो पियत फूँकि फूँकि मह्यो हौ।" (विनय०)

किसी कवि के अपरिमित शब्द-भण्डार में केवल भाषा, विभाषा और बोलियों के नाना शब्दों को देखकर अथवा उसमें सुन्दर मुहावरों या लोकोक्तियों का प्राचुर्य पाकर ही उसे भाषा नायक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः शब्दों पर विशेषाधिकार तभी प्रकट होता है जब वे वाक्य में प्रयुक्त होकर अपरिवृत्तिसह रूप से जगमगाते हैं, कवि के अभिप्रेत अर्थ को यथावत् द्योतित करते हैं और स्वतः पाठकों को चिर परिचित से जान पड़ते हैं। गोस्वामीजी की रुचिर वाक्य-रचना ऐसी ही उपयुक्त एवं प्रभूत शब्दावली से हुई है। उदाहरण के लिए न स्थान है और न आवश्यकता। उनकी सारी कृतियाँ यही प्रमाणित करती हैं। उनकी अद्वितीय सुव्यवस्थित वाक्य-रचना पर मुग्ध होकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत ठीक कहा है—"और कवियों के साथ तो तुलसी का मिलान ही क्या? वाक्य-दोष हिन्दी में भी

हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगों को रहा। सूरदास भी इस बात में तुलसी से बहुत दूर हैं।[१]"

सच्चे महाकवि की भाँति गोस्वामीजी अपने सामयिक जन-सामान्य की भाषा से पूर्णतया अभिज्ञ थे और उसकी प्राचीन परंपरा से सम्बद्ध भाषाओं का भी उन्हें परिज्ञान था। उनकी भाषा की व्यापकता और उनके शब्द-भण्डार की अपरिमेयता का आभास तो अब तक के विवरण से हो गया होगा। स्थानाभाव के कारण उनकी दोनों भाषाओं की विशेषता आदि न दिखाकर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सांस्कृति समन्वय के अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हों ने अपने युग की दोनों प्रधान भाषाओं की परिधि को वृहत् करके उनमें यथासम्भव निकटता और सामञ्जस्य-स्थापना का कार्य भी बड़ी कुशलता से किया। दोनों भाषाओं को अपना-अपना रूप सँवारने और संकीर्णता छोड़ने के निमित्त उनमें परस्पर स्पृहणीय आदान-प्रदान कराया इसी से उनकी उत्कृष्ट व्रजभाषा की रचनाओं में जैसे पूरबी प्रयोग भले प्रकार आदृत हुए हैं वैसे ही अवधी की सर्वोत्कृष्ट कृति 'मानस' में व्रज-भाषा, उसकी विभाषा और बोलियों तक के शब्द सत्कृत किए गए हैं। ऐसा करके भी उन्हों ने दोनों भाषाओं की मौलिक सत्ता पर, उनकी एकरूपता पर किसी प्रकार का कुठाराघात नहीं किया है, यह भी हमें न भूलना चाहिए।

भाषा संबंधी उक्त चर्चा की इति करने के साथ ही दो-चार शब्दों में यह संकेत कर देना भी समीचीन होगा कि तुलसीदास की आदर्श-भाषा के निर्माण में उनकी कवित्वशक्ति ही नहीं अपितु उनकी साधु-वृत्ति ने भी यथेष्ट प्रेरणा दी है। वस्तुतः अपनी गुणग्राही प्रकृति और लोकोपकारिणी साधु-वृत्ति से प्रेरित होकर ही उन्हों ने अधिक से अधिक लोगों को लाभ पहुँचाने के लिए ही यथासंभव सार्वजनीन लोकभाषा का निर्माण किया है, उसमें साम्प्रदायिकता से मुक्त भगवत्प्रेम और सांस्कृतिक चेतना का विमल स्रोत काव्य की ओट में बहाया है।

काव्य सौष्ठव के अभिवृद्धिकारक विविध उपादानों और साहित्य-शास्त्र-सम्मत प्रतिमानों को दृष्टि में रख कर भी तुलसीदास का कविकर्म विचारणीय है।

शब्द-शक्तियों में अभिनिवेश

कवि-कर्म शब्दार्थमय है। अतः सफल कवि के लिए यह नितान्त

(१) रा० शु० "गोस्वामीतुलसीदास" पृ० १८६

आवश्यक है कि वह शब्द और अर्थ के संबंध का विशिष्ट परिज्ञाता हो। अर्थात् त्रिविध शब्द-शक्तियों पर उसका पूर्ण अधिकार हो। अभिधा शब्द की प्रथमा शक्ति है। इसके द्वारा जिन वाचक शब्दों का अर्थ बोध होता है वे रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ तीन प्रकार के होते हैं। कुशल कवि इन तीनों प्रकार के वाचकों के प्रयोग में किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करता। अनगढ़, अशुद्ध, असमर्थ पद ही अभिधा की दृष्टि से हेय माने जाते हैं और ऐसे ही प्रयोग भाषा का प्रकृत प्रवाह नष्ट करते और उसे पंकिल बनाते हैं। अभिधा का मर्मज्ञ किसी अवाचक शब्द का विवक्षित अर्थ में प्रयोग नहीं करता और न अनुप्रास आदि की आपात रमणीयता के मोह में पड़कर दूषितार्थ पदों का ही प्रयोग करता है।

अब यदि हम गोस्वामीजी के द्वारा प्रयुक्त रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ वाचकों की ओर दृष्टिपात करें तो हमें उनके शतप्रतिशत ऐसे ही प्रयोग मिलेंगे जो प्रायः अपरिवृत्तिसह होंगे और साक्षात्संकेतित अभिधेयार्थ को ही प्रकाशित करते होंगे उदाहरण देने की कोई आवश्यकता नहीं। उनकी किसी भी कृति का कोई भी पृष्ठ देखिए।

कवि जब अपने भावों की अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता और तीव्रता से वाचक शब्दों द्वारा नहीं कर सकता तब वह लाक्षणिकता का आश्रय लेकर करता है। भावविशेष या वस्तुविशेष की वक्र अथवा प्रगल्भ व्यंजना, उक्ति में विचित्र चारुता तथा सादृश्य या साधर्म्य की ओट में वर्णनीय का मूर्त प्रत्यक्षीकरण आदि से हमें जिस चमत्कार की अनुभूति होती है वह बोधगम्य और उपयुक्त लाक्षणिक प्रयोगों का ही पराक्रम है। तुलसी के काव्य में उपलभ्यमान निर्दोष लाक्षणिक प्रयोगों की बृहत् राशि में अल्पोपलब्ध उपादान-लक्षणा के कुछ उदाहरणमात्र नीचे दिए जाते हैं—

"सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसति, हुलसति खलई है।"

(विनय० पद १३६)

यहाँ लाक्षणिक शब्द हैं—'साधुता' एवं 'खलई' ये धर्म या गुण हैं। इनका सोचना और हुलसना कैसा? इस दशा में वाच्यार्थ को छोड़ कर हम लक्ष्यार्थ की ओर बढ़ते हैं और इनके द्वारा समस्त साधु व्यक्ति तथा खलजन का अर्थ ग्रहण करते हैं। इन लक्ष्यार्थों से स्पष्ट है कि इनका संबंध वाच्यार्थ साधुता तथा खलता गुण से लगा हुआ है। अतः इनमें उपादान या अजहत्-स्वार्था लक्षणा हुई। इसी भेद का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

"तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि॥" (दोहावली दो० ३२६)

तुलसीदास के काव्य में प्रयुक्त रमणीय मुहावरों और लोकोक्तियों में व्यापक रूप से सर्वत्र जो रूढ़ि लक्षणा और यत्र तत्र प्रयोजन लक्षणाएँ दृष्टिगत होती हैं उनके संबंध में तो कुछ कहना ही नहीं। इनकी संख्या तो अत्यधिक है। सूक्ष्म भावों की अनुभूति को विशेष तीव्र बनाने के लिए लाक्षणिकता के बल पर उन्हें मूर्त दृष्टिगोचर स्वरूप देने का भी एक उदाहरण लीजिए—

"सुनि विलाप दुखहू दुख लागा। धीरज हू कर धीरज भागा॥"

('मानस' अयो० १५१.८)

गोस्वामीजी की रचनाओं में जितने भी लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं उनमें से अधिकांश उनकी काव्य-भाषा की व्यञ्जकता, व्यापकता और चारुता बढ़ाने वाले हैं। ये जन-समाज की अनुभूति और विचार-परम्परा के अनुकूल एवं स्वाभाविक होने के कारण भाषा और भाव दोनों को सुबोध और सुस्पष्ट बनाते हैं।

अभिधा और लक्षणा से ही कवि का अभिप्रेत अर्थ सर्वत्र अभिव्यक्त हो जाता ही हो, ऐसी बात नहीं। श्रेष्ठ रचनाओं के अनेकानेक प्रसंगों में उक्त दोनों शक्तियों के विफल होने पर तीसरी शक्ति व्यञ्जना और ही करामात दिखाती है। इसके द्वारा प्राप्त व्यंग्यार्थ न तो कथित या अभिहित होता है और न लक्षित। वह व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित, अवगत या प्रतीत होता है। नीचे तुलसीदास की रचनाओं से कुछ उदाहरण देकर उनके व्यंग्यार्थ प्रकाशन का प्रयास किया जाता है—

"तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुना निधि, जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न''

(गीतावली सुंदर० गीत २०)

अवतरण में 'सकौं कहि हौं न' के वाच्यार्थ से हमें सीधे व्यंग्यार्थ दुःखाधिक्य की अवर्णनीयता का बोध हो जाता है। अतः यहाँ अभिधामूला व्यञ्जना हुई।

वाच्य वैशिष्ट्य के कारण व्यंग्यार्थ किस प्रकार व्यञ्जना वैचित्र्य दिखाता है, इसका एक उदाहरण यह लीजिए—

"पति देवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेख॥"

(मानस बा० २३५.)

यह सीता की उक्ति है पार्वती की प्रतिमा के प्रति। प्रथम पंक्ति का वाच्यार्थ है—तुम्हारी पतिव्रता स्त्रियों में प्रथम गणना है। इससे व्यंग्यार्थ

यह निकलता है कि जब तुम ऐसी पतिव्रता हो तो मेरे पातिव्रत धर्म की अवश्य रक्षा करोगी, क्योंकि मैं राम को अपना मानस पति बना चुकी हूं। ऐसा न हो कि कोई अन्य नृप कुमार धनुभंग करके मेरा वरण करले। अवतरण से स्पष्ट है कि सीता के वाक्य की विशेषता के कारण वाच्यार्थ से उसके व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः यहाँ वाच्य वैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-सम्भवार्थी व्यञ्जना हुई।

वाक्य वैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना का उदाहरण यह बरवै देखिए—

"गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह।
देखउ आपनि मूरति सिय कइ छाँह॥"

(बरवै रामा० बा० छ० १७)

उदाहृत में दूसरी पंक्ति के वाक्य-वैशिष्ट्य से सीता का अतिशय सौन्दर्य रूप व्यंग्य प्रकट होता है। छाँह के उभय अर्थ हैं। एक सौन्दर्य और दूसरा छाया। छाँह में, सौन्दर्य में, रूप देखने का तात्पर्य यह है कि सीता में इतनी आभा है कि राम उसमें अपना प्रतिविम्ब देख सकते हैं। छाया के अर्थ में देखने का भाव यह है कि राम का श्यामल रूप सीता की छाया है, क्योंकि वह काली होती है।

चित्रकूट में भरत को ससैन्य आते देख उनके प्रति आशंका करते हुए लक्ष्मण जी बहुत क्षुब्ध हुए और झुँझला कर उन्हें 'कुटिल' 'कुबन्धु' आदि कहकर भी शांत न हुए और राम की दोहाई देते हुए उबल पड़े—

"जो सहाय कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥"

राम ने उनके इस रोप को देख कर उन्हें नीतिपूर्वक समझाया और अन्त में कहा—

"लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥"

इसका व्यंग्यार्थ यह हुआ कि तुम्हारा विचार ठीक नहीं। फिर इससे दूसरा व्यंग्य यह निकलता है कि तुमको अनन्य भातृ-भक्त होने का अहंकार नहीं करना चाहिये। यहाँ भरत-मिलन का प्रकरण होने के कारण ही एक व्यंग्य से दूसरे व्यंग्य का बोध होता है। उक्ति में प्रस्ताव-वैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्य-सम्भवा आर्थी व्यंजना हुई।

वन-गमन के प्रसंग में राम और सीता का परस्पर जो संवाद दिखाया गया है उसमें बड़ी ही मार्मिक व्यन्जनाएँ हैं। इसी प्रकार चित्रकूट की सभा में, भरत ने अपने ऊपर समस्त त्सरुभार देखते हुए 'अरथ अमित अति आखर थोरें, में जो-जो उत्तर दिए वे अथवा उसी प्रसंग में वशिष्ठ, राम, जनक के जो-

जो कथन हुए हैं वे गूढ़ाति गूढ़ व्यंग्यार्थों से संपृक्त हैं। अवकाश नहीं कि हम उक्त प्रसंगों के कुछ उदाहरण यहाँ दे सकें अंगद-रावण-संवाद या परशुराम-राम संवाद आदि के प्रसंगों में यद्यपि व्यञ्जना का अच्छा चमत्कार है, पर इनमें उतनी गंभीरता नहीं।

गोस्वामीजी शब्द-शक्तियों का मर्म भली भाँति समझे हुए थे, इसी से उनके काव्य में इनके यथोचित प्रयोगों की कमी नहीं। एक बात हमें यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि उन्हों ने शब्द-शक्तियों में भी व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ईश्वर-विषयक प्रेम की व्यंजनाएँ अधिक की हैं।

विचारणीय है कि तुलसीदास ने काव्य के स्वरूपाधाय और उत्कर्षाधायक उपकरणों की योजना तथा स्वरूपच्युतिकारक अपकर्षाधायकों का परिहार कहाँ तक किया है। आलंकारिकों के विविध मतों का पारस्परिक सम्बन्ध मनोयोग पूर्वक समझ लेने पर अन्त में हम यही कह सकते हैं कि वस्तुतः ध्वनि रस आदि काव्य के स्वरूपाधायक हैं और अलंकार, गुण, वक्रोक्ति आदि उत्कर्षाधायक। अपकर्षाधायकों के अन्तर्गत काव्य के विविध दोष परिगणनीय हैं।

स्वरूपाधायकों की योजना

गोस्वामीजी को दृष्टि में ध्वनि आदि का क्या स्थान था, इसका किञ्चित अनुमान निम्नांकि अर्द्धाली से किया जा सकता है—

"धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती[१]॥"
(मानस बा० ३६.८)

'अवरेब' के अर्थ वक्रपन पर दृष्टि रखते हुए यदि विचार किया जाए तो अवतरण से स्पष्ट है कि कवि ने ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण अलंकार आदि को क्यों कर प्रश्रय दिया है। ठीक ही है, जैसे सरोवर के जल में नाना प्रकार के मीनों के थिरकते रहते का दृश्य नयनाभिराम होता है वैसे ही रामचरित रूपी जल के शोभा-वर्द्धन के लिए ही कवि ने ध्वनि, वक्रोकि, गुण अलंकारादि को अपनाया है। एतदर्थ उनके काव्य में उक्त मीनों की जल-क्रीड़ाएँ भी अवलोकनीय हैं।

ध्वनि के स्वरूप के संबंध में यहाँ इतना ही संकेत करना अलं होगा कि वाच्य से अधिक उत्कर्षक चारुता प्रतिपादक व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं।[१] दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि जिस काव्य में व्यंग्यार्थ ही मुख्य अर्थात्

१—'चारुत्वोत्कर्ष निबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' 'ध्वन्यालोक'

विशेष चमत्कृति-जनक रहता है वही उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य कहा जाता है। तुलसीदास ध्वनि से पूर्णतया अभिज्ञ थे, अतः उन्हों ने अपने काव्य में ध्वनि के भी यथोचित प्रयोग किए हैं। ध्वनि के प्रधान भेदों में से कुछ के उदाहरण उनकी कृतियों से दिए जाते हैं।

अविवक्षित वाच्य-ध्वनि के द्वितीय भेद अर्थात् अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का यह उदाहरण देखिए—

"बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥"

(मानस बा० २७६.४)

यह परशुराम के प्रति लक्ष्मण की उक्ति है। यहाँ 'कृपा', 'अनुकूल', 'मूर्ति' और 'फूल' अपने-अपने वाच्यार्थ को छोड़ तद्विपरीत अर्थ का बोध कराते हैं, अर्थात् लक्ष्मण के कोप को व्यंजित करते हैं।

विवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। इनमें प्रथम की महत्ता इसी से समझी जा सकती है कि इसके अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भाव-सन्धि और भावशवलता सभी आते हैं। अलंकार शास्त्र ने रसों को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और किस प्रकार वे काव्य के प्राण स्वीकृत किए गये हैं, इन प्रसंगों को यहाँ छेड़ने का अवकाश नहीं। यहाँ तो हम कुछ उदाहरण-मात्र देना चाहते हैं जिनसे प्रकट हो जाए कि तुलसीदास की दृष्टि रस, भाव, रसाभास आदि के सुप्रयोग की ओर भी थी।

संयोग श्रृंगार का स्थायी भाव रति किस प्रकार आलम्बन, उद्दीपन तथा व्यभिचारी भाव आदि उपकरणों से परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो रही है, यह देखिए—

"दुलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावहिं गीत सबै मिलि सुंदरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परिछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥"

(कवितावली बा० छ० १७)

विप्रलम्भ श्रृंगार का परिपाक देखना चाहें तो अधोलिखित अर्द्धालियों को पढ़िये—

"हा गुन खानि जानकी सीता। रूप-सील-व्रत-नेम-पुनीता॥
लछिमन समुझाये बहुभाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुपनिकर कोकिला प्रबीना॥
× × ×
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥
किमि सहिजात अनख तोहि पाहीं। प्रिया वेगि प्रगटसि कस नाहीं॥
एहि विधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा विरही अति कामी॥
पूरनकाम रामु सुखरासी। मनुज चरित कर अज अविनासी॥"
('मानस' अरण्य० २६.७—१७)

कहना नहीं होगा कि सीता का वियोग होने के उपरांत राम को यह विरह-दुःख हुआ है अतएव यहां भूतविप्रयोग (प्रवास) नामक विप्रलम्भ शृंगार रस हुआ। वर्णन के अन्त की दोनों अर्द्धालियाँ रस परिपाक की पूर्णता दिखाने के लिए नहीं आई हैं, प्रत्युत भक्ति-भावनावश जोड़ी गई हैं।

भविष्यत विप्रयोग का उदाहरण देखना चाहें तो यह देखिए--

"समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु-पद-कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ॥"
× × ×
"सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥
उतर न आव बिकल वैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही॥
बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरजु उर अवनि कुमारी॥
लागि सासु पग कह कर जोरी। छमवि देवि बड़ि अविनय मोरी॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परम हित होई॥
मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं। पिय बियोग सम दुख जग नाहीं॥'
(मानस अयो० ६३.१—७)

तुलसीदास ने जहाँ-कहीं शृंगार रस के संयोग या वियोग पक्ष के वर्णन किए हैं वहीं वे पूर्णतया परिष्कृत हैं, किसी प्रकार असंयत या अस्वाभाविक नहीं हैं और न उनमें अन्यान्य कवियों की सी नग्नता या अभव्यता ही आई है।

शोक स्थायी भाव आलम्बन और उद्दीपन विभाव तथा संचारियों से पोषित होकर अपनी पूर्णावस्था की प्राप्ति से करुण रस की निष्पत्ति किस प्रकार कर रहा है यह देखिए---

"पति सिर देखत मंदोदरी। मुरछित बिकल धरनि खसि परी॥
जुवति वृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥

पति गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं वपुष सँभारा॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥
तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेज-हीन पावक ससि तरनी॥

× × ×

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल बरनि न जाई॥
रामबिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥
तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा॥
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। रामबिमुख ये अनुचित नाहीं॥
कालबिबस पति कहा न माना। अग-जग नाथ मनुज करि माना[1]॥"

कहना नहीं होगा कि करुण रस के इस मार्मिक वर्णन में भी अंत में तुलसीदास अपनी साधुता की झलक दिए बिना न रह सके।

'मानस' में राम-वन-गमन, दशरथ-मरण एवं लक्ष्मण-मूर्छा के प्रसंगों में गोस्वामीजी ने करुण रस को मूर्तिमान किया है। 'गीतावली' के उत्तरकांड के सीता त्याग-संबंधी कुछ गीतों में भी उक्त रस की हृदय-विदारक व्यञ्जना हुई है।

शास्त्रीय सभी अवयवों के सहित अद्भुत रस की निष्पत्ति बालकांड के "एक बार जननी अन्हवाये। करि सिंगार पलना पौढ़ाये।" आदि अर्द्धालियों की माला में देखिए[2]। इसके अतिरिक्त सती जब राम की परीक्षा करने गयीं, उस प्रसंग में भी अद्भुत रस की परिपूर्णता दिखाई गई है[3]। इसके संबंध में इतना और ध्यान में रहे कि इन दोनों प्रसंगों में तुलसीदास के कवि स्वरूप की अपेक्षा उनका भक्त स्वरूप अधिक प्रवुद्ध हो गया है।

वीर रस के चार भेदों में प्रमुख युद्धवीर के वर्णन गोस्वामीजी ने अनेक प्रसंगों में किए हैं। यथा लंकाकांड में वीररस की योजना कितने ही प्रसंगों में हुई है। बालकांड में जनक की 'वीर-विहीन मही मैं जानी' सदृश उक्ति से उद्दीप्त होकर लक्ष्मण ने जो बातें कहीं—

"तोरउँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जो न करउँ प्रभु पद सपथ पुनि न धरउँ धनु हाथ॥"

उनमें भी वीररस की व्यंजना है। यहाँ धनुष आलम्बन विभाव है, जनक

---

(१) 'मानस' लं० १०३.१—१२
(२) वही बा० २००.१—८; २०१.१—८
(३) वही बा० ५३.४—८; ५४.१—८

का व्यंग्य उद्दीपन विभाव है। आवेश में आकर लक्ष्मण ने जो बातें कही हैं वे अनुभाव हैं। आवेग, औत्सुक्य, मति, धृति, गर्व आदि सन्चारी भाव हैं और इनसे स्थायी भाव उत्साह परिपुष्ट होता है तब यहाँ वीररस व्यंजित होता है। यहाँ 'तव प्रताप बल' उत्साह का बाधक न होकर साधक हो गया है। 'कवितावली' के लंकाकांड में भी घनाक्षरी, झूलना और छप्पयों की पिटारी में वीररस के अच्छे-अच्छे आदर्श भरे हैं।

वीररस के अन्य तीनों भेद अर्थात् दान वीर, दया वीर और धर्मवीर दिखाना चाहें तो इन्हें भी सुगमता से दिखा सकते हैं, क्योंकि तुलसीदास ने राम में वीररस के चारों भेदों के लक्षण घटित किए हैं। राम की दानवीरता और दयावीरता के क्रमशः एक-एक उदाहरण लीजिए—

"जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥"

('मानस' सुंदर० ४९.)

× × ×

"राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हों॥
सुनहु लषन ! खगपतिहि मिले बन मैं पितु-मरन न जान्यौ।
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यौ॥
बहु बिधि राम कह्यौ तनु राखन परम धीर नहिं डोल्यौ।
रोकि प्रेम, अवलोकि बदन-बिधु बचन मनोहर बोल्यौ॥
तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुमहिं कहाँ पुनि पैहौं"॥

('गीतावली' अरण्य० गीत १३)

धर्म के व्यापक स्वरूप को दृष्टि में रखकर ही तुलसीदास ने यत्र-तत्र धर्म वीरता की किरणों को प्रस्फुटित होती दिखाया है। क्षत्रिय जाति और रघुवंशी-कुल की धर्मवीरता का उद्बोधन ऐसा होता है—

"देव दनुज भूपति भट नाना। सम.बल अधिक होउ बलवाना॥
जौ रन हमहिं प्रचारइ कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पाँवर जाना॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुवंसी॥"

(मानस)

तुलसीदास के विस्तृत एवं उत्कृष्ट काव्य-क्षेत्र में रौद्र, भयानक, हास्य, वात्सल्य तथा शांत रसों के भी एक से एक बढ़ कर उदाहरण विद्यमान है, पर स्थानाभाव के कारण इनके उदाहरण आदि छोड़कर हम आगे बढ़ते हैं।

रस के सभी उपकरणों को जुटा कर किसी रस विशेष की योजना कर देना कोई बड़ी बात नहीं। वस्तुतः कवि की रस-मर्मज्ञता का पता तब चलता है जब वह रसौचित्य का सांगोपांग निर्वाह करता है अर्थात् वह प्रमादवश न विरोधी रसों का संकर ही करता है और रस दोषों के ही चक्कर में पड़ता है। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में विरोधी रसों का संकर कहीं भी नहीं किया है प्रत्युत उन्हों ने सहायक रसों को ही मिलाया है। देखिए इस हरिगीतिका की छोटी-सी परिधि के भीतर भयानक, अद्भुत और वीर के स्वतन्त्र रस-संकर की कैसी योजना हुई है—

"महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अतिघनी।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध धनी॥
सुर मुनि सभय प्रभु देखि माया नाथ अति कौतुक करेउ।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मरेउ॥"

('मानस' अरण्य० २०.)

एक ऐसा उदाहरण लीजिए जिसमें कवि ने वीर और भयानक सदृश विरोधी रसों को भिन्न देश में वर्णित कर रस दोष नहीं आने दिया—

"प्रभु कीन्ह धनुष टंकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा।
भये बधिर ब्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा॥"

('मानस' अरण्य० १६.)

यहाँ राम में वीर और राक्षसों में भयानक होने के कारण अर्थात् भिन्न देश में वर्णित होने से दोनों विरोधी रस दूषित नहीं हुए हैं।

भाव का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि सञ्चारी, देवता आदि विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्बुद्धमात्र रसावस्था को अप्राप्त रति आदि स्थायी भावों को भाव कहते हैं[१]। हमारे कवि ने अपनी कृतियों में प्रायः सभी प्रकार के भावों का निरूपण सफलतापूर्वक किया है। मानस के उपक्रम में "बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥" से प्रारम्भ होने वाली अर्द्धालियों की माला ईश्वर-विषयक रति भाव का अच्छा नमूना है।

---

(१) 'काव्यालोक' पृ० २६८

तुलसीदास ने देवता-विषयक रतिभाव का जहाँ जहाँ निरूपण किया है वे सभी स्थल ऐसे नहीं है कि केवल भक्त पुकार या स्तुति करके रह जाता हो और देवता प्रत्यक्ष रूप में मौन ही रहता हो, प्रत्युत उन्होंने कुछ ऐसे वर्णन भी किए हैं कि आलम्बन (देवता) भी प्रत्यक्ष रूप में (आश्रय, भक्त को आश्वासन देता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यदि जानकी अपनी परमश्रद्धा से गिरिराज-किशोरी की प्रतिमा की नाना प्रकार से जय-जयकार करती हुई अपने मनोरथ पूर्ति की याचना करती हैं तो उससे प्रभावित होकर भवानी भी मुस्करा कर अपना प्रसाद देती हुई बोल उठती है—

"बिनय-प्रेमबस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥
सादर सिय प्रसाद सिर धरेउ। बोली गौरि हरषु उर भरेउ॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजहिं मन कामना तुम्हारी॥
नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बर मिलहिं जाहि मन राँचा॥
('मानस' बा० २३५.५—८)

गुरु-विषयक रति-भाव का एक मनोहर उदाहरण 'मानस' के प्रारम्भ में 'बंदउँ गुरु-पद पदुम-परागा' आदि में देखिए। ऋषि-विषयक और राजा विषयक रति-भाव के उदाहरण क्रमशः ये हैं—

"बंदउ मुनि-पद-कंजु रामायन जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु दोष-रहित दूखन-सहित॥"
× × × ('मानस' बा० १४)

"बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीन दयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥"
('मानस' बा० १६.)

उद्बुद्धमात्र स्थायीभाव का भी एक उदाहरण लीजिए—

"माखे लषन कुटिल भइ भौंहैं।
रदपट फरकत नयन रिसौहैं॥" ('मानस' बा० २५१.८)

यहाँ आलम्बन उद्दीपन और अनुभाव आदि के होते हुए भी क्रोध स्थायी भाव की पुष्टि नहीं हो पाई है क्योंकि इसी के साथ कवि ने यह भी निरूपण कर दिया है—

"कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम-पद-कमल सिर बोले गिर प्रमान॥"

इससे स्पष्ट है कि राम के भय के सामने क्रोध स्थायी भाव उद्बुध हो

होकर रह जाता है, परिपुष्ट नहीं होता। अतः यहाँ भाव ध्वनि ही मानी जायगी।

अन्त में, प्रधानतया व्यञ्जित व्यभिचारी भाव के कुछ नमूने लीजिए—

(क) "धरि धीर कहैं चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं।
कहिहै जग पोच न सोच कछू फल लोचन आपन तौ लहिहैं॥
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं।
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महि हैं॥"
('कवितावली' अयो० छ० २३)

(ख) "बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥
राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥"
('मानस' बा० २८९.४, ५)

(ग) "स्रवन सुनत सागर बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥
बाँधे बननिधि, नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस॥"

इन अवतरणों में (क) (ख) एवं (ग) में क्रमशः 'औत्सुक्य' 'जड़ता' और 'आवेग' सञ्चारी भाव व्यञ्जित हुए हैं।

रसाभास का ज्वलंत उदाहरण 'मानस' के उस प्रसंग में देखिए जहाँ शंकर की समाधि छुड़ाने के लिए रतिनाथ ने अपनी माया विस्तारी और चराचर थोड़े समय के लिए उसके वशीभूत हो गये[1]। उक्त प्रसंग में लता, वृक्ष, नदी, समुद्र, ताल, तलाई, पशु, पक्षी, मुनि योगी प्रभृति का अनुचित शृंगार वर्णित होने से रसाभास हुआ।

भावाभास का एक उदाहरण लीजिए—

"सुनु महीस अस नीति, जहँ तहँ नाम न कहहि नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति, सोइ चतुरता बिचारि तव॥
नाम तुम्हार प्रताप दिनेसा। सत्यकेतु तव पिता नरेसा॥
गुरु प्रसाद सब जानिय राजा। कहिय न आपन जानि अकाजा॥
देखि तात तव सहज सुधाई। प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई॥
उपज परी ममता मन मोरे। कहउँ कथा निज पूछे तोरे[2]॥"

अवतरण से प्रकट है कि कपट मुनि ने अपनी कार्य-सिद्धि के लिए राजा

(१) 'मानस' बा० ८४. १—८
(२) वही ,, १६३. १—४

के प्रति अपना कपटमय प्रेम प्रदर्शित किया है, एतदर्थं यहाँ राजाविषयक रति-भावाभास हुआ।

भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशवलता के नमूने भी क्रमशः देखिए—

"मैं यहि परसु काटि बलि दीन्हें। समर जग्य जग कोटिक कीन्हे।
मोर प्रभाव बिदित नहिं तोरे। बोलसि निदरि बिप्र के भोरे॥
भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा॥"
('मानस' बा० २८२.४—६)

यह गर्व संचारी आगे जब राम ने रमापति वाले धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा दी तो विस्मय में परिवर्तित हो गया—

"राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु चाप मिटइ संदेहू॥
देत चाप आपुहि चढ़ि गयेऊ। परसुराम मन बिस्मय भयऊ॥"

अतः यहाँ भावोदय हुआ।

शिव के धनुर्भंग की ध्वनि सुनते ही परशुराम जब जनक की सभा में आये तो उनके देखने से ही प्रकट होता था कि उनमें कौन-सा भाव छाया रहा—

"सीस जटा ससि बदन सुहावा। रिस बस कछुक अरुन होइ आवा॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥"

परंतु यह क्रोधभाव विश्वामित्र के आकर मिलने और राम-लक्ष्मण दोनों भाइयों को मुनि के चरणों में डालने के उपरांत सहसा लुप्त हो गया और वे—

"रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥"

इस प्रकार यहाँ भावशांति हुई।

भावसन्धि निम्नांकित पंक्तियों में कितनी सुन्दरता से व्यक्त हुई है—

"तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर॥
चकित चितइ मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी॥"

इसमें एक साथ ही हर्ष और विषाद का सञ्चार वर्णित है।

'गीतावली' के "सुवन समीर को धीर धुरीन बीर बड़ोइ[१]।" से आरम्भ होने वाले गीत में समान चमत्कारक अनेक भावों का सम्मेलन होने से अपूर्व भावशबलता दिखाई गई है। उक्त गीत बड़ा है। उसे उद्धृत करने का अवकाश नहीं।

---

(१) 'गीतावली' सुंदर० गीत ५

उत्कर्षाधायकों का विधान

हम अलंकारवादियों के ऐसे विचार—

"अंगीं करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥"

(अर्थात् जो विद्वान् अलंकार-रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता) से सर्वांश में सहमत होकर भले ही अलंकार को काव्य का सारभूत अंग न मानें, पर उसे काव्य का एक ऐसा साधन तो मानना ही पड़ेगा जो यथार्थ और उपयुक्त रीति से प्रयुक्त होने पर भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में बहुत कुछ सहायक होता है। श्रेष्ठ काव्य प्रणेताओं को अलंकारों का सम्यक् ज्ञान रहता है और वे उनके यथोचित प्रयोगों से भी अपने काव्य की कमनीयता बढ़ाते हैं। हमारे कवि के व्यापक काव्य-क्षेत्र में प्रयुक्त सभी अलंकारों की ओर दृष्टिपात करने पर सर्व प्रथम अवगत होगा कि उनमें शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों के प्रयोग बहुत अधिक हैं। वस्तुतः शब्दालंकार का काव्य में विशेष प्रयोग उसके महत्व को कम करने वाला होता है। तुलसीदास गम्भीर प्रकृति के थे। उन्हों ने यमकादि शब्दालंकार पर विशेष दृष्टि नहीं रखी, स्वाभाविक रीति से ही ये अलंकार कहीं कहीं आ गए हैं। रहे अर्थालंकार; उनमें से कदाचित् ही कोई ऐसा हो जो हमारे कवि की रचनाओं में न मिले। सभी प्रकारों का एक-एक उदाहरण देने के लिए भी इस छोटे से ग्रंथ में स्थान नहीं। अतः हम कुछ के ही उदाहरण देते हुए उन पर विचार करेंगे।

साधर्म्यमूलक अभेद-प्रधान अलंकारों के अन्तर्गत आनेवालों में रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख और अपह्नुति हैं। यों तो तुलसीदास ने इनमें से हर एक का प्रयोग किया है, पर सबसे अधिक प्रयोग रूपक का ही दिखाई पड़ता। उनकी छोटी-बड़ी सभी कृतियों में पग पग पर रूपक के प्रयोग मिलते हैं। छोटे-छोटे निरंग और परंपरित रूपकों का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े और बे-जोड़ सांग रूपक के भी एक से एक बढ़कर उदाहरण 'मानस' 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' प्रभृति प्रधान कृतियों में जगमगाते हैं। उन्हों ने अपने इन लंबे लंबे सांग रूपकों में भी सादृश्य और साधर्म्य का आद्योपान्त निर्वाह किया है और उनकी पूर्ण प्रभविष्णुता दिखाई है। इनकी योजना कहीं किसी दृश्य-विशेष को पूर्ण और मूर्तिमान करने के लिए की गई

है, कहीं सामान्यतः गंभीर विषयों को सरस एवं सरल रीति से हृदयंगम कराने के लिए। अपने उभय प्रयास में वे सर्वथा सफल हैं। उनके रूपक केवल परम्परागत उपमानों और अप्रस्तुतों की क्षुद्र परिधि में ही नहीं बँधे रहते, अपितु वे विशेषांश में अपनी सूक्ष्म प्रकृतिपर्य्यवेक्षण शक्ति के सहारे प्रकृतिके व्यापारों से ही ऐसे सार्थक और प्रकृत अप्रस्तुतों का चयन करते हैं कि उनसे रूपक में प्रभावादि के अतिरिक्त बड़ी ही स्वाभाविकता आ जाती है। उन्हों ने अपनी अप्रतिम कवित्व शक्ति के बल पर जहाँ-कहीं बड़े-बड़े सांग रूपकों का आदर्श निर्माण किया है वहीं पाठक मुग्ध होकर उसमें दिखाई पड़ने वाले दृश्य या गंभीर विषयों का मनोरम बिंब ग्रहण करने लगता है और उसी के साथ अन्त में बाबा जी के भक्त हृदय की एक झलक भी पा जाता है। यथा मान लीजिए आप 'गीतावली' के अयोध्याकांड के ४७, ४८ और ४९ वें लंबे-लंबे गीतों को पढ़ रहे हैं। इनमें वसंतोत्सव और फगुवा खेलने का वर्णन करने के लिए सांग रूपकों की योजना की गई है। इन्हें पढ़ते ही उनमें चित्रित दृश्यों की छटा आखों में छा जाती है, पर कानों में भक्त तुलसीदास के ये* स्वर गूंजने हैं—

"तुलसीदास चाँचरि मिस कहे राम गुन ग्राम।
गावहिं सुनहिं नारि नर पावहिं सब अभिराम॥"

× × ×

"कह तुलसीदास तेहि छाँडु मैन। जेहि राख राम राजीव नैन॥"

× × ×

"बिरहिन पर नित नइ परै मारि। छाड़ियत सिद्ध साधक प्रचारि।
तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर-बाँह॥"

गोस्वामीजी के हृदयग्राही बड़े-बड़े सांग रूपकों में से एक को भी उद्धृत करने का स्थान नहीं। अतः हम एक छोटा-सा उदाहरण देकर ही संतोष करते हैं—

"आश्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुना-सरित लिये जात रघुनाथ॥"
बोरति ग्यान बिराग करारें। बचन ससोक मिलत नद नारें॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरु-बरु कर भंगा॥

---

* नीचे के तीनों अवतरणों में 'गीतावली' के उक्त गीतों की अन्तिम दो-दो पंक्तियाँ क्रमशः दी गई हैं।

विषम विषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा॥
केवट बुध विद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा॥
बनचर कोल किरात बेचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे॥
आस्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई॥"
('मानस' अयो० २७४.१—६)

राम के रंग भूमि में प्रवेश करने पर सूर्योदय की कान्ति में भक्त को अपने आराध्य के प्रताप की जो स्वाभाविक दीप्ति दिखाई पड़ी उसे उसके कवि हृदय ने चमत्कारमय अपह्नुति में व्यक्त किया, यह देखिए—

"रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्ह दिखाया॥"
('मानस' बा० २३८.५)

उल्लेख की योजना के सहारे विविध गुणों के आश्रयत्व से एक ही राम को कवि ने कैसे विभिन्न रूपों में दर्शाया है, यह 'मानस' के बालकांड की "जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥" से लेकर उसके नीचे की चौपाइयों की माला में भली भाँति देखा जा सकता है*। जिस पाठक को अलंकार का ज्ञान नहीं उसे भी उक्त प्रसंग स्वाभाविक ही लगता है, क्यों कि इसे वह राम की दिव्य विभूति समझता है। बहुत संभव है तुलसी के भक्त हृदय ने इस दिव्य विभूति के द्योतनार्थ ही इस उल्लेख की रचना की है।

साधर्म्य मूलक भेद-प्रधान अलंकारों में परिगणनीय हैं—दीपक, तुल्य योगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप, व्यतिरेक, अधिक एवं अल्प। इनमें से कुछ के उदाहरणों की ओर आइए।

समाज के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को पतन के गर्त में झोंकने वाले दुर्गुणों से बचने की चेतावनी देने के विचार से संत तुलसीदास ने अपने कुछ उपदेश-मय वचनों को दीपक की योजना से विभिन्न प्रस्तुत और अप्रस्तुतों का एक ही धर्म अर्थात् क्रिया में सम्बन्ध यहाँ किस प्रकार दिखाया है, यह देखिए—

"संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ग्यान पान ते लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥"
('मानस' अरण्य० १०' १०, ११)

जगत में बलवानों का निर्बलों को खाये जीने की दुर्नीति देख कर तुलसी दास का साधु हृदय द्रवित हुआ फलतः अनेक अप्रस्तुतों का एक धर्म कालक्षेप

* दे० 'मानस' बा० २४०.४—८, २४१.१—८

करने की असमर्थता की यह स्वाभाविक और सच्ची उद्‌भावना किस प्रकार तुल्ययोगिता से अलंकृत हो जाती है, यह देखिए—

"सहवासी काचो गिलहिं, पुरजन पाकप्रवीन।
कालक्षेप केहि मिलि करहिं, तुलसी खग-मृग-मीन ॥"

('दोहावली' दो० ४०४)

निदर्शना के द्वारा गोस्वामीजी ने इन पंक्तियों में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की उत्कृष्टता कैसे अच्छे ढंग से व्यक्त की है—

"जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु स्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजक आक फिरहिं पय लागी ॥"

('मानस' उ० ११४.१—२)

सहोक्ति द्वारा एक ही धनुर्भंग व्यापार में होने वाली अनेक क्रियाओं का यह सहभाव कैसी सुंदरता से दिखाया गया है साथ ही इससे राम की विमोहिनी शक्ति की अपूर्व व्यंजना की गई है—

"गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाय लियो।
नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥
आकरष्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यो जनक-हियो।
भंज्यो भृगुपति गर्व सहित, तिहुँ लोक विमोह कियो ॥"

('गीतावली' बा० गीत ८८.६,७)

सच्चे महात्माओं को अपने हृदय की परम कोमलता और परोपकारिणी बुद्धि के कारण दूसरों के दुख की कितनी तीव्र अनुभूति होती है इसे व्यतिरेक के इस उदाहरण से समझिये—

"संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥"

('मानस' उ० १२४.७—८)

अधिक अलंकार की योजना द्वारा अत्यधिक आनन्दोल्लास की यह कैसी व्यंजना की गई है—

"बहुत उछाहु भवन अति थोरा। मानहु उमगि चला चहुँ ओरा ॥"

('मानस' बा० २९६.८)

यहाँ बहुत उछाह आधेय को भवन आधार से बहुत बड़ा बताया गया है।

प्रिया के वियोग-जनित दुःख के कारण राम के अत्यधिक क्षीण हो जाने की व्यंजना करने के लिए तुलसीदास ने अल्प का चमत्कार बरवै की इस पंक्ति में दिखाया है—

"कन गुरिया कइ मुँदरी कँगना होइ।" ('बरवै०' सुंदर० ३८)

इसमें कनगुरिया की मुँदरी सूक्ष्म आधेय से हाथ आधार के अधिक या बड़ा होने पर भी उसे सूक्ष्म बताया गया है। तभी तो मुँदरी कंकण का स्थान ले रही है।

साधर्म्य मूलक के भेदाभेद-प्रधान अलंकारों में सर्वोपरि उपमा ही है। इसका प्रयोग भी गोस्वामीजी ने प्रचुर परिमाण में किया है। विशेष रूप से इनकी उपमाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि ये अधिकांश में सौन्दर्य या दृश्य-चित्रण के लिये व्यवहृत हुई हैं। इनमें उनकी नूतनातिनूतन कल्पना शक्ति का विस्तार भी अवगत होता है। कवि-समय-सिद्ध उपमानों के अतिरिक्त नए उपमानों के प्रयोग की भी न्यूनता नहीं है। यही नहीं, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपमानों को भी कहीं-कहीं बड़ी अनूठी उद्भावना के साथ विशेष-विशेष प्रसंगों में बैठाया गया है। उन्हों ने ऐसी उपमाओं की भी सृष्टि की है जो एकमात्र उनके जड़ एवं चेतन जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण तथा आभ्यन्तरिक वृत्तियों की गहरी पहचान पर अवलंबित हैं। अब उपमा की कुछ ऐसी भिन्न-भिन्न पंक्तियाँ देखिए जिनसे उक्त विशेषताएँ झलक उठें—

"तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक-से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह-से विकसे॥"
× × × ('कवितावली' बा० छं० २)

"दिये पीठि पाछे लगे, सनमुख होत पराय।
तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गँवाय॥"
× × × ('दोहावली' दो० २५७)

"जनक-बचन छुए बिरवा लजारू के-से।
बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइ के॥"
× × × ('गीतावली' बा० गीत ८२ [९])

"लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपिन कर सोना॥"
('मानस' बा० २५८.२)

समाज के लोगों में बाहर से अच्छा वेश बना कर चिकनी-चुपड़ी करने और भीतर छल-छद्म भरे रहने की वृति की कुत्सा महात्मा तुलसीदास एक उपमा के द्वारा कैसे करते हैं यह भी देखिए—

"हृदय कपट, बर वेष धरि, बचन कहैं गढ़ि छोलि।
अब के लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिए मन खोलि॥"
('दोहावली' दो० ३३२)

अध्यवसाय मूलक अलंकारों के अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार आते हैं। इन दोनों का प्रयोग भी गोस्वामीजी ने दिल खोलकर किया है। उत्पेक्षाओं की भरमार भी उपमाओं और रूपकों की भाँति विशेषरूप से 'गीतावली' 'कवितावली' 'विनयपत्रिका' एवं 'मानस' में देखी जा सकती हैं। उन्होंने जहाँ-कहीं रूप या अंग-शोभा को वर्णनीय बनाया है वहीं उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा करते हुए उसकी अनूठी माला भी प्रस्तुत कर दी है जो पाठक को सहज में ही अप्रतिम सौन्दर्यानुभूति कराती है। इस माला में पिरोए अप्रस्तुत कवि परंपपरानुगत और प्रकृति से गृहीत दोनों प्रकारके रहते हैं। दोनों ही प्रस्तुत के भाव को पूर्णतया अनुरंजित करते हैं। देखिए—

"जानकी-बर सुंदर माई।
इंद्रनील-मनि स्याम सुभग अँग अंग मनोजनि बहु छवि छाई॥
अरुन, चरन, अंगुली मनोहर, नव दुतिवंत कछुक अरुनाई।
कंजदलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सु-सदसि बनाई॥
पीत जानु उर चारु जटित मनि नूपुर पद कल मुखर सोहाई।
पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई॥
किंकिन कनक कंज-अवली मृदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई।
गई न उपर सभीत नमित-मुख, बिकसि चहुँ दिसि रही लोनाई॥
जज्ञोपवीत विचित्र हेममय, मुक्तामाल उरसि मोहिं भाई।
कंद-तड़ित बिच जनु सुरपति-धनु-रुचिर बलाक पाँति चलि आई॥
कंबु-कंठ, चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहौं दसनन की रुचिराई।
पदुम कोस महँ बसे बज्रमनो निज संग तड़ित-अरुन-रुचि लाई॥
नासिक चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल कचनि अनुपम छबि पाई।
रहे घेरि राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदय डेराई॥

ऐसे अप्रतिम सौन्दर्य को मूर्तिमान करने के पश्चात् तुलसीदास का भक्त हृदय आगे गीत की अंतिम पंक्तियों में अपने आराध्य के रूप के संबंध में कहता है—

सारद सेस संभु निसिबासर चिंतित रूप न हृदय समाई।
तुलसिदास सठ क्यों करि बरनै यह छबि, निगम नेति कह गाई॥"❀

उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना में कवि-कल्पना के उड़ान की सफलता इसी में है कि वह ऐसे प्रस्तुत को लाए कि उससे प्रस्तुत का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव ही झलके। तभी सौन्दर्यानुभूति होती है। यथा—

❀ 'गीतावली' बा० गीत १०६

"सतानंद सिष सुनि पायँ परि पहिराई
माल सिय पिय-हिय, सोहत सो भई है।
मानस से निकसि बिसाल सु तमाल पर
मानहुँ मराल पाँति बैठि बन गई है॥‡"

यहाँ प्रस्तुत 'जयमाल' और अप्रस्तुत 'मराल पाँति' दोनों में वर्ण्यसाम्य ही नहीं, अपितु सौन्दर्य की भावना भी है।

सगुण-निर्गुण एवं नामजप का अपूर्व सामञ्जस्य उत्प्रेक्षा के इस उदाहरण में देखिए—

"हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना नाम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥"
('दोहावली' दो० ७)

अतिशयोक्ति-योजना में तुलसीदास ने भी यद्यपि अन्य कवियों की भाँति दूर की उड़ान भरी है, परंतु कहीं भी इसका फल यह नहीं हुआ है कि उनकी अतिशयोक्ति केवल कौतूहलमात्र दिखाकर या पहेली बनकर रह जाती हो और उनके अभिप्रेत वर्ण्य में उत्कर्ष न लाती हो। अत्यन्तातिशयोक्ति का एक ऐसा उदाहरण लीजिए जो इतनी स्वाभाविकता से प्रकट किया गया है कि लोग उसे झट पहचान भी नहीं सकते—

"राजन राउर नाम जस सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाष तुम्हार॥"
('मानस' अयो० ३.)

गोस्वामीजी ने 'मानस', 'गीतावली', तथा 'कवितावली', में धनुष के टूटने पर उसके घोर रव की भयंकरता द्योतन के लिए अथवा युद्ध-वर्णन के कई प्रसंगों में ऐसी संबंधातिशयोक्ति की योजना की है जो पूर्णतया परम्परागत है। अतः वह भी अस्वाभाविक नहीं लगतीं प्रत्युत अपने प्रयुक्त प्रसंग में विचित्र प्रभविष्णुता लाती है।

राम के पारमार्थिक अनिर्वचनीय स्वरूप की अभिव्यंञ्जना भी एक सहज अतिशयोक्ति में देखिए—

"राम! स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति निगम कह॥"
('मानस' अयो० १२५.६)

---

‡ वही ,, ,, ६४ [४]

विरोधमूलक अलंकारों की श्रेणी में आनेवालों में से भी दो-चार की बानगी लीजिए।

विभावना के चमत्कार द्वारा कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति बताकर कवि निराकार ब्रह्म की अलौकिकता हृदयंगम कराने और पाठक के हृदय में ईश्वर विषयक भाव की विशेष पुष्टि करने में कितना समर्थ हुआ है, यह देखिए—

"बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥"

विषम की यह अलंकृत उक्ति राम के हृदय में सीता के वियोग-जनित दुःखाधिक्य और उनके प्रेमाधिक्य दोनों भावों की बड़ी गम्भीर अनुभूति कराने में कैसी सहायक हो रही है—

"करुनानिधान को तो ज्यों ज्यों तनु छीन भयो।
त्यों-त्यों मन भयो तेरे प्रेम पीन॥"
('गीतावली' सुंदर० गीत ८)

असंगति का यह विधान चारों भाइयों के मनमोहक रूप विशेष की अभिव्यंजना कितनी स्वाभाविकता से कर रही है—

"जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥"
('मानस' बा० २०३. ८)

अप्रस्तुत प्रशंसा के सभी भेदों में से पंचम भेद सारूप्य निबन्धना का, जिसे अन्योक्ति भी कहा जाता है, प्रयोग भी हमारे कवि ने बड़ी मार्मिकता-पूर्वक 'दोहावली' के कई दोहों में किया है। एक उदाहरण लीजिए—

"तुलसी तोरत तीर तरु, बक हित हंस बिडारि।
बिगत नलिन अलि, मलिन जल, सुरसरिहू बढ़ियारि॥"
('दोहावली' दो० ४६८)

यहाँ अप्रस्तुत बाढ़ की गंगा का ध्वंसकारी चित्र उपस्थित करके उसके द्वारा कवि इस प्रस्तुत का बोध कराना चाहता है कि बढ़ती होने पर सज्जन भी इतरा जाते हैं।

वाक्य न्यायमूलक अलंकारों में से कुछ यथा, यथासंख्य, परिसंख्या तथा समुच्चय के उदाहरण क्रमशः देखिए—

"मधुर बचन कटु बोलिबो, बिनु स्रम भाग अभाग।
कुहू कुहू कलकंठ रव, काँ काँ कररत काग॥"
('दोहावली' दो० ४३६)

इस यथासंख्य के द्वारा कवि ने मधुर और कर्कश वाणी में से प्रथम का उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष बड़ी स्वाभाविकता से हृदयंगम कराया है।

"दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नरतक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिय अस रामचंद्र के राज॥"
('मानस' उ० २२)

इस परिसंख्या के द्वारा रामराज्य का सौख्याधिक्य व्यंग्य होने से इसमें भी कृत्रिमता नहीं प्रकट होने पाती।

"ग्रहग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइअ बारुनी कहहु कवन उपचार॥"
('मानस' अयो० १७९.) १८०

यह समुच्चय वेदनाधिक्य की अनुभूति कराने में सहायक हो रहा है।

लोकव्यवहार मूलक अलंकारों में से स्वभावोक्ति और विनोक्ति के क्रमशः उदाहरण ये हैं--

"भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि-ओदन लपटाइ॥"
× × × ('मानस' बा० २०३)

"स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥"
('मानस' बा० २२८.२)

तर्कन्यायमूलक अलंकारों में से काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास के उदाहरण लीजिए--

"अतुलित महिमा वेद की तुलसी किये विचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥"
('दोहावली' दो० ४६४)

कहना नहीं होगा कि यहाँ काव्यलिंग का चमत्कार वेदों में आस्था दृढ़ कराने में सहायक हो रहा है।

"अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयु-हीन भे निसिचर तबहीं॥
साधु अवग्या तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कर हानी॥"
('मानस' लं० ४१.१, २)

अर्थान्तरन्यास की इस चमत्कारमयी उक्ति में विशेष प्रस्तुत का समर्थन जिस सामान्य अप्रस्तुत से किया गया है वह साधु-महिमा प्रकट करने के लिए भी आया है।

श्रृंखलावैचित्र्य मूलक अलंकारों की श्रेणी में आनेवाले कारणमाला, एकावली तथा सार का भी क्रमशः एक-एक उदाहरण देखिए---

"बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥"

× × × ('मानस०' उ० ६१.)

"काल बिलोकत ईस रुख, भानुकाल अनुसारि।
रविहि राउ, राजहिं प्रजा, बुध ब्यवहरहिं बिचारि॥"

× × × ('दोहावली' दो० ५०४)

"आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोउ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिय सोइ॥"

('दोहावली' दो० ३५७)

अपह्नवमूलक अलंकारों में से व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति और मीलित के उदाहरण क्रमशः नीचे दिए जाते हैं---

"धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पतिहित करइ धरम निपुनाई॥"

× × × ('मानस' लं० २३.१,२)

"नाँगो फिरै, कहै माँगनो देखि न खाँगो कछू जनि माँगिए थोरो।
राँकनि नाकप रीझि करै, तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो॥"

('कविता०' उ० छ० १५३)

"सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावउँ चंपक होत॥"

('बरवै रामा०' बा० छ० ६)

विशेषण वैचित्र्यमूलक समासोक्ति और परिकर अलंकार के सटीक और उपयुक्त प्रयोग भी देखिए---

"बरषि परुष पाहन पयद, पंख करो टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहिं चूक॥"

× × × ('दोहावली' दो० २८२)

"देहु उतर अरु कहहु कि नाहीं। सत्य संध तुम रघुकुल माहीं॥"

('मानस' अयो० २९.४)

अन्त में अब दो-एक ऐसे उदाहरण लीजिए जो उभयालंकार के दोनों भेद संसृष्टि और संकर के प्रयोग में भी गोस्वामीजी की योग्यता के समर्थक हों।

२०

निम्नांकित दोहे में अनुप्रास सदृश शब्दालंकार तथा उत्प्रेक्षा एवं क्रमालंकार सदृश अर्थालंकार की कैसी सुन्दर संसृष्टि हुई है—

"लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥"

('मानस' अयो० २३६.)

यदि संदेह संकर की भूलभुलैया में रमना हो तो इस अर्द्धाली में प्रवेश कीजिए—

"सुनि मृदु बचन मनोहर प्रिय के। लोचन नलिन भरे जल सिय के॥

('मानस' अयो० ६३.१)

यहाँ 'लोचन नलिन' पद में उपमा और रूपक का सन्देह तो हो जाता ही है, साथ ही अवतरण में विषमालंकार और अप्रस्तुतप्रशंसा का भी सन्देह हो जाता है, क्योंकि प्रिय के मृदु वचनों को सुनकर दुःख होना, अर्थात् भले उद्योग से अनिष्ट फल मिलना, यह विषम अलंकार होता है और 'लोचन नलिन भरे जल सिय के' इस वचन से नेत्रों में अश्रु आ जाने के बहाने उसके कारण रूप दुःख का कथन होना कार्य से कारण का बोधरूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी हो सकता है। यहाँ कार्य है लोचन-जल और उसका कारण है—दुःख, तात्पर्य यह कि जहाँ अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का बोध होता है वहीं कार्य निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा होती है।

यहाँ उक्त अलंकारों में से न तो किसी के खण्डन की सामग्री है और न मण्डन की, अतः निश्चयपूर्वक किसी अलंकार का निर्णय नहीं हो सकता।

गोस्वामीजी की अलंकार योजना के इन विविध उदाहरणों को देखते हुए यह सभी स्वीकार करेंगे कि उन्हें अलंकारों का सम्यक् ज्ञान था, उन्हों ने अलंकारों का प्रयोग कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं किया है, प्रत्युत इन्हें कहीं भावोत्कर्ष का सहयोगी बनाया है तो कहीं वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया आदि की तीव्र अनुभूति को सजग कराने का साधन। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है। उनका अलंकार-विधान भी उनके साधु व्यक्तित्व की छाया से अछूता नहीं रह पाया है। इसी से उनकी अलंकारयोजना भी प्रायः भगवत्प्रेम और उपदेश समन्वित ही मिलती है।

काव्य में अलंकार सदृश उत्कर्षाधायकों का जो स्थान है उससे कहीं महत्त्वपूर्ण स्थान होता है गुणों का। यदि अलंकारों द्वारा काव्य की बाहरी शोभा बढ़ती है तो गुणों के द्वारा उसकी आन्तरिक सुन्दरता की अभिवृद्धि होती है। काव्य में अलंकारों का अभाव नहीं भी खटक सकता, पर गुणों के न रहने

पर कविता किसी काम की न रहेगी। वस्तुतः गुण आंतरिक भावों के पोषक होकर कविता में आते हैं। काव्य के स्वरूपाधायकों में रस का ही प्रमुख स्थान है और गुणों का प्रयोग रसों को ही ध्यान में रख कर किया जाता है। रसों के स्वरूप पर ध्यान देने से इसकी स्वयंसिद्ध-सी प्रतीति होती है कि सभी रसों की अभिव्यंजना एक ही शैली में नहीं हो सकती। कविश्वरों को भी अपनी कविता रसानुरूप बनाने के लिए शैली के त्रिविध गुणों की मर्यादा का अतिक्रमण करने पर कटाक्ष का लक्ष्य होना पड़ा है। कालिदास का युद्धवर्णन सफल नहीं माना जाता क्योंकि उसमें ओज की जगह माधुर्य गुण ही व्यक्त होता है। भवभूति जिनकी शैली, संस्कृत साहित्य में, भावानुरूप होने के कारण उत्तम मानी गयी है उनकी सब से बड़ी विशेषता यही है कि उन्हों ने रसानुरूप ही माधुर्य ओज और प्रसाद गुणों का प्रयोग किया है। हिन्दी साहित्य में भवभूति के समान ही रसानुरूप शैली का व्यवहार करनेवाला यदि कोई महाकवि है तो वे हैं--गोस्वामी तुलसीदास।

उनके प्रकृष्ट काव्य के किसी स्थल में किसी रस विशेष के सभी उपकरणों के साथ तदरसानुरूप गुण भी उस रस के प्रमुख उपस्कारक की भाँति वर्तमान है और वह रस के उत्कर्ष को और भी श्री सम्पन्न करता है यदि रस कोमल भाव पर टिकने वाला है तो उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ करते दिखाई पड़ते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा॥
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दृगंचल॥
देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि दिखाई॥
सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबि गृह दीप सिखा जनु बरई॥"

('मानस' बा० २२९.१—७)

कोमल भावों से ही परिपुष्ट होने वाले श्रृंगार रस की व्यंजना के हेतु कवि ने यहाँ जिस शैली को चुना है उसमें माधुर्य गुण तो ओत-प्रोत है ही, साथ ही नाद-सौष्ठव की गुंजार भी कितनी मधुर लगती है। यहां चाहे किसी अभिव्यंजनावादी की रंगत देखिए, चाहे पोप के 'साउन्ड मस्ट इको दी सेन्स' की बहार। अवतरण में एक भी अर्द्धाली ऐसी नहीं है जिसमें माधुर्य गुण न हो। और प्रसाद गुण का क्या कहना, वह तो दर्पण की भाँति झलक ही रहा है।

एक दूसरा उदाहरण जिसमें ओज और प्रसाद गुण फब रहे हैं, उसे देखिए--

"क्रुद्धे कृतान्त समान कपि तनु स्रवत सोनित राजहीं।
मरदहिं निसाचर कटक भट बलवंत घन जिमि गाजहीं॥
मारहिं चपेटन्हि डाँटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।
चिक्करहिं मरकट भालु छल बल करहिं जेहि खल छीजहीं॥
धरि गाल फारहिं उर विदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
प्रहलादपति जनु विविध तनु धरि समर अंगन खेलहीं॥"

प्रसंग वीर रस का है और उसके उत्कर्ष के साथ वीभत्स और रौद्र रस की झाँकी भी वर्तमान है गुण की प्रधानता के विचार से ओज की गर्जन तो प्रकट ही है। ओज इन्हीं रसों के अनुरूप माना गया है "चित्त को भड़का (उत्तेजित करने) देने वाले गुण का नाम ओज है और यह गुण वीर रस के वर्णन में रहता है; क्रमशः वीभत्स और रौद्र रस में ओज गुण का उत्कर्ष बढ़ता चला जाता है*।" कहना नहीं होगा कि ओज की उक्त विशेषता अवतरण में वर्तमान है। ओज की स्थूल पहचान है वर्णों की श्रुतिकटुता वह भी स्पष्टतः परिलक्षित ही हो रही है। प्रसंग प्रसाद गुण से भी युक्त है, कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं।

तुलसीदास के काव्य में गुणों की उपयुक्त-योजना दिखाने के लिए अब और उदाहरण देने का स्थान न देखकर हम उसके संबंध में यही कहना चाहते हैं कि उन्हों ने जहाँ-कहीं अपनी कृतियों में रस का पूर्ण परिपाक दिखाया है वहीं की शैली रस विशेष के भावों को व्यंजित करती हुई उपयुक्त प्रसाद, माधुर्य अथवा ओज गुण का पल्ला पकड़े चलती है। फलतः इससे भी उनके काव्य में चार चाँद लग जाते हैं।

अपकर्षाधायकों का परिहार

उत्कृष्ट काव्य-निर्माण में जिस प्रकार उसके स्वरूपाधायकों, उत्कर्षाधायकों के सुगम विधान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अथवा उससे भी बढ़कर अपेक्षा होती है अपकर्षाधायकों के परिहार की। काव्य में दोषों का परिहार कितना आवश्यक ठहराया गया है, इसे आचार्य दण्डी की इस उक्ति से अनुमान कीजिए--

---

* 'काव्य प्रकाश' ८: सू० ९२, ९३

"तदल्पमपि नो पेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्‌* ॥"

(अर्थात् काव्य में छोटे-से-छोटे दोष की भी उपेक्षा कदापि न करनी चाहिये। चाहे कितना ही सुन्दर शरीर हो, पर कोढ़ के एक छींटे से भी अभागा बन जाता है।)

काव्य की सुन्दरता काव्य के अपने सभी गुणों से युक्त होने पर ही अवलम्बित नहीं रहती है, अपितु वह काव्यगत दोषों से मुक्त होने पर भी निर्भर है। विभिन्न आचार्यों ने दोषों की संख्या भिन्न-भिन्न ठहरायी है। उसके विवेचन या विस्तार से हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो उन कुछ दोषों का संकेत करना है जो हमारे बहुत माथा मारने पर एकाध प्रसंगों में हाथ आये हैं—

"खल प्रबोध, जग सोध, मन को निरोध कुल सोध।
करहिं ते फोकट पचि मरहिं, सपनेहु सुख न सुबोध ॥"
('दोहावली' दो० २७४)

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'यतिभंग' दोष है।

'न्यूनपदत्त्व' दोष का उदाहरण यह लीजिए—

"उत्तम, मध्यम, नीच गति पाहन, सिकता पानि।
प्रीति परीक्षा तिहुँन की बैर बितिक्रम जानि ॥"
('दोहावली' दो० ३५२)

'अक्रमत्व' दोष निम्नांकित में देखिए—

"सचिव बैद गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तनु तीन कर होइ बेगही नास ॥"
('मानस' सुंदर ३७.)

'मानस में कहीं-कहीं एक ही अर्द्धाली ज्यों की त्यों दो प्रसंगों में व्यवहृत हो गई है, यथा 'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा ॥† यह बालकांड में आई है, अयोध्याकांड में भी है। इसी प्रकार धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा§ ॥" लंकाकांड

* 'काव्यादर्श' १ : ७
† दे० 'मानस' बा० ७६.२; अयो० २११.३
§ ,, वही लं० ५०.६; १०२.३

के दो प्रसंगों में आई हैं। ऐसी ही दो-चार पंक्तियाँ और हैं जो दोहराई गई हैं। इसे हम एक प्रकार का अनवीकृतत्व दोष समझते हैं।

श्लीलता का निर्वाह

श्लीलता का पूर्ण परिपाक भी उत्तम कोटि के काव्य का आवश्यक अंग है। तभी तो कलाकारों को काव्य के कतिपय दोषों से बचने के साथ ही अश्लीलता से भी दूर रहने की चेतावनी दी गई है। अश्लीलता व्रीड़ा, जुगुप्सा और अमंगल व्यञ्जक भावों के प्रकाशन से तीन प्रकार की मानी गई है—
"त्रिधेतिव्रीड़ाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात्"

दैनिक व्यवहारों की ओर दृष्टिपात करने से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि समाज में कितने ही व्यवहारों का नग्न-प्रदर्शन लज्जा-जनक माना जाता है। ऐसी व्रीड़ात्मक बाते प्रायः श्रृंगार और हास्य के वर्णनों में विशेष रूप से दिखाई पड़ती हैं। इन्हीं दोनों के निरूपण में अनेकानेक बड़े-बड़े कवि भी श्लीलता की उपेक्षा करते दिखाई पड़ते हैं। रस विरोधी अनेक दोषों में से प्रकृति अर्थात् पात्रों का विपर्यय नामक दोष भी एक विशेष स्थान रखता है। प्रकृति अर्थात् नायक तीन प्रकार के होते हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, जिनके वर्णन में प्रधानतया वीर, रौद्र, श्रृंगार और शान्त रस गृहीत होते हैं। नायक धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त और धीरोद्धत तथा उत्तम, मध्यम और अधम भेद के होते हैं। इनमें से रति, हास, शोक और आश्चर्य ये भाव अदिव्य उत्तम पात्र के सदृश दिव्य उत्तम पात्रों में भी वर्णित होते हैं, किन्तु सम्भोग श्रृंगार की बीज भूति रति उत्तम दिव्य प्रकृति के विषय में सर्वदा अवर्णनीय ठहराई गई है, क्योंकि उसका वर्णन माता-पिता के सम्भोग-वर्णन के समान अनुचित है*। तुलसीदास की समस्त रचनाओं को ढूंढ़ डालिए उनमें कहीं भी सम्भोग श्रृंगार का अमर्यादित वर्णन नहीं मिलेगा। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उनके सामने ऐसे प्रसंग ही नहीं आए प्रत्युत तथ्य यह है कि उन्हों ने ऐसे प्रसंगों के आने पर भी प्रकृति-विपर्यय नहीं होने दिया। जहाँ शिव-पार्वती के सम्भोग श्रृंगार वर्णन का अवसर आया वहाँ इतना ही कहना उचित समझा—

"जगत मातु पितु संभु-भवानी। तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी॥
करहिं विविध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥"

---

* 'काव्य प्रकाश' सप्तम उल्लास, १२ 'प्रकृतयो दिव्या दिव्यादिव्याश्च सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्।"

जहाँ पार्वती के अप्रतिम सौन्दर्य-वर्णन की अपेक्षा थी वहाँ भी गोस्वामीजी ने बड़े संयत और सुचारु ढंग से जगदम्बिका के रूप और कान्ति की अभिव्यक्ति की है। यथा—

"देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनइ छबि अस जग कवि को है॥
जगदंबिका जानि भव वामा। सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा॥
सुंदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिन्ह बदन बखानी॥"
('मानस' बा० ९९.६–८)

इसी प्रकार सीता की अलौकिक शोभा वर्णन करते समय उनके अंगों में यौवनागम आदि का संकेत करके भी तुलसीदास ने जैसी श्लीलता‡ का प्रकाशन किया है वैसी अन्यत्र कहाँ। केवल देवियों के शृंगार-वर्णन में ही श्लीलता का पालन किया गया हो ऐसी बात नहीं। उन्हों ने अदिव्य, अधम पात्रों के शृंगार वर्णन में भी श्लीलता का पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। विवरण को व्रीड़-व्यंजक अश्लीलता की छाया तक नहीं छूती।

तुलसीदास की कृतियों में कहीं-कहीं ग्राम्य शब्दों का प्रयोग देखकर कोई सहसा कह सकता है कि ऐसे प्रयोग ही श्लीलता के विरोधी हैं। पर, ऐसे सहसा कथन का कोई मूल्य नहीं। काव्य में कुछ ऐसे अपवाद भी स्वीकृत किए गए हैं जिनमें जुगुप्सा-व्यंजक ग्राम्य पदों के प्रयोग दोष की जगह गुण माने जाते हैं। यथार्थ तथ्य के निरूपणार्थ नीतिमय वचनों के कथन में ग्राम्य पद का प्रयोग अश्लीलत्व का द्योतक नहीं होता। यथा—

"तुलसी देवल देव को लागे लाख करोरि।
काग अभागे हगि भरयो, महिमा भई न थोरि॥"
('दोहावली' दो० ३८४)

नीतिमय वचनों में ही नहीं, अपितु शान्त (वैराग्य) के प्रकरण में भी जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लील अर्थ गुण विशिष्ट माने जाते हैं जैसे—

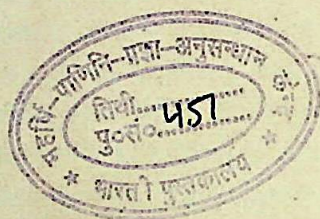
"रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥"
'मानस' अयो० ३२२. ८

अधम पात्रों की उक्तियों में ग्राम्य पद गुण हो जाते हैं। ऐसे प्रयोग भी गोस्वामीजी ने बराबर किये हैं।

यदि कोई अत्यधिक नियमव्रती समीक्षक अपनी रूक्षता के अनुशासन में आकर बाबाजी में किसी प्रकार की अश्लीलता सिद्ध करना चाहे तो वह केवल उन्हीं प्रसङ्गों की ओर अँगुली-निर्देश कर सकेगा जिन्हें उन्होंने अपनी स्पष्ट-

‡ दे० 'मानस' बा० २४६.१—८; २४७.१—४

वादिनी अति साधुता की प्रेरणा से अथवा रामविरोधी के प्रति सहज चिढ़ की माँग से रचा होगा। मन्दोदरी सदृश पतिपरायण भार्या ने अपने पति पर जैसे निर्भय और कठोर अमांगलिक और अप्रशस्त अधिक्षेप वचन कहे हैं वे विशुद्ध नीतिज्ञों की दृष्टि में अश्लीलता अथवा अनीति के द्योतक हो सकते हैं। इसी प्रकार भरत ने माता कैकेयी की जो गर्हा की है उसमें भी यही बात दिखाई दे सकती है। जो कुछ भी हो परिस्थिति विशेष की ये बातें विवादास्पद हो सकती हैं। पर सामान्यतया काव्य की उत्कृष्टता की जाँच के लिए कुछ गृहीत प्रतिमानों को दृष्टि में रखकर तुलसीदास की साहित्यिक देन की जो परीक्षा प्रस्तुत प्रकरण में की गई उसके आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि उन्होंने जिस काव्य का निर्माण किया है वह उत्कृष्ट काव्य की समस्त विभूतियों से परिपूर्ण तो है ही साथ ही अपूर्व साधुता से भी अनुरंजित है। संसार के कवियों ने या तो साधु-महात्माओं के सिद्धासन पर आसीन होकर अपनी कठोर साधना या तीक्ष्ण अनुभूति तथा घोर धार्मिक कट्टरता या साम्प्रदायिक असहिष्णुता से भरे बिखरे हुए छन्द कहे हैं और अखंड ज्योति की कौंध में कुछ रहस्यमय, धुँधली और अस्फुट रेखाएँ अंकित की हैं अथवा लोकमर्मज्ञ की हैसियत से सांसारिक जीवन के तप्त या शीतल एकांत चित्र खींचे हैं जो धर्म और अध्यात्म से सर्वथा उदासीन दिखाई पड़ते हैं। गोस्वामी जी ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने इन सभी के नाना विधि भावों को एक सूत्र में गुम्फित करके अपनी अनुपमेय साहित्यिक देन प्रस्तुत की है। काव्य की निरवच्छिन्न पीयूष-धारा से अभिषिक्त होने के कारण उनकी कृतियाँ बहुत ऊँची है, पर उनसे भी अधिक ऊँचा है उनका भव्य व्यक्तित्व। यह उनके साधु जीवन और व्यक्तित्व का ही प्रभाव है जो उनकी काव्य प्रतिभा से चमत्कृत चेतनातरंगिणी एक ओर विमल भक्ति के कूल को और दूसरी ओर मानवता के सम-विषम तट को चूमती चलती है। उनके काव्य में आत्म-गवेषणात्मक वृत्तियों के जो उद्बोधन दिखाई पड़ते वे सब उनके उदार व्यक्तित्व के सहज उद्गार हैं। सभी परिस्थितियों के विविध स्तरों को पारकर परपीड़ा की अनुभूति का अभ्यास बिरले ही बनाए रखते हैं। महात्मा तुलसीदास इन्हीं बिरलों में से विरलतम हैं, फलतः वे अपने काव्य को लोकोपकारक विभूतियों से सम्पन्न किए बिना कैसे रह सकते थे। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसीदास ने अपनी अद्वितीय कवित्व-शक्ति और अनन्य साधुता के संयोग का अपूर्व अमृतमय सुभग फल हिन्दी साहित्य को देकर उसे युग-युगान्तर के लिए अमर कर दिया है।


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी
पु०सं० 451
भारती पुस्तकालय

लेखक की अन्य कृति

'तुलसीदास और उनका युग'

यह प्रबंध लेखक के अनेकानेक वर्षों के अथक प्रयास के पश्चात् विनिर्मित हुआ और इसी पर उसने काशी विश्व विद्यालय से सन् १९४९ में डी. लिट्. की उपाधि प्राप्त की। ग्रंथ उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हो चुका है। तुलसीदास के उच्च श्रेणी के गंभीर अध्येताओं के लिए यह एक अपूर्व निधि है। इससे पाठकों को गोस्वामीजी के राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकार के विचारों का यथार्थ मर्मोद्घाटन और उन सब को नूतन दृष्टिकोण से अवलोकन करने का सुअवसर प्राप्त होगा। तुलसी-साहित्य पर अबतक जो कुछ लिखा गया है, प्रायः सबका आलोचनात्मक परिज्ञान इस एक ही ग्रंथ से हो जायगा। तुलसीदास पर की गई आलोचनाओं की न्यूनता को दूर करते हुए कवि के व्यापक क्षेत्र का आभास कराने का भरपूर प्रयास भी मिलेगा।

मूल्य ७)